समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच

☐ मूल्य : तीस रुपये
☐ प्रथम संस्करण : १९७८
☐ प्रकाशक : पूरनसिंह बिष्ट,
तक्षशिला प्रकाशन, २३/४७६२, अन्सारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
☐ मुद्रक : जनशक्ति मुद्रण यन्त्रालय, के-१७, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२
☐ आवरण : हरिप्रकाश त्यागी
☐ बंधनालय : न्यू जगदीश बुक बाइंडिंग हाउस, शाहदरा, दिल्ली-३२

Samkaleen Hindi Natak Aur Rangmanch—by Jaidev Taneja

२३/४७६२ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

शब्दकोश के प्रथम वर्ण के लिए

भूमिका

आधुनिक भारतीय नाटक और रंगमंच के इतिहास में सन् १९६० से १९७० तक का समय अपनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों के लिए सदैव याद किया जाएगा। बादल सरकार, गिरीश कार्नाड, आद्य रंगाचार्य, विजय तेंदुलकर और मोहन राकेश के **एवम् इन्द्रजित, तुगलक, सुनो जनमेजय, खामोश ! अदालत जारी है** तथा **आधे-अधूरे** उसी दौर की रचनाएँ हैं। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि राकेश की मृत्यु के बाद उस तीव्र एवं व्यापक रंग-आन्दोलन में एक जबरदस्त ठहराव आ गया। उस पीढ़ी के ये सभी नाटककार जल्दी ही अपनी उपलब्धियों को भुनाने के लिए या तो व्यावसायिक नाटककार बन गए या फिर अन्य क्षेत्रों में व्यस्त हो गए। लगभग यही नियति उस काल के अधिकांश रंगकर्मियों की भी हुई। इधर नयी पीढ़ी के रचनाकार मौलिकता और श्रेष्ठता की दृष्टि से कोई नया प्रतिमान स्थापित नहीं कर सके। राष्ट्रीय स्तर पर आज भी उन्हीं चार-पाँच नाटककारों की ही चर्चा-प्रशंसा होती है और उन्हीं के वही पाँच-सात पुराने नाटक सर्वत्र खेले भी जाते हैं। परन्तु इसका कतई यह अर्थ नहीं है कि राकेश के बाद इस क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण लिखा ही नहीं गया। हिन्दी में ही इस बीच अनेक उल्लेखनीय कृतियाँ सामने आई है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के सूक्ष्म-विश्लेषणात्मक नाटकों के साथ-साथ जीवन और जगत की अनेक बुनियादी समस्याओं तथा अन्य गहन एवं व्यापक पहलुओं का जीवन्त चित्रण इधर के

नाटकों में देखने को मिला है। इनकी उपलब्धियाँ भले ही विशेष उल्लेखनीय न हों किन्तु इनकी सम्भावनाएँ नि.सन्देह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यह पुस्तक इन्ही सम्भावनापूर्ण समकालीन हिन्दी नाटकों और विकासशील किन्तु वैविध्यपूर्ण एवं बहुआयामी हिन्दी रंगमंच की एक झलक प्रस्तुत करती है।

जिन रगकर्मियों के साक्षात्कार इस पुस्तक में हैं, उनका मैं कृतज्ञ हूँ। **नटरंग, नाट्य-वार्ता, अभिनय, अभिनय-सम्वाद, रविवार, आजकल, योजना, दिल्ली, शोराजा, संचेतना वार्षिकी, सार्थक** इत्यादि पत्रिकाओं का भी मैं आभारी हूँ, जिनमे इस पुस्तक के अधिकांश लेख सम्पादित अथवा संक्षिप्त रूप में पहली बार प्रकाशित हुए।

यदि तत्काल प्रकाशन के लिए श्री तेजसिंह विष्ट का आग्रह और डा० सत्येन्द्र तनेजा, डा० हस्ती, आनंद गुप्त और विश्वनाथ कत्याल जैसे मित्रों-सहयोगियों का अनुग्रह न होता तो ये बिखरे हुए लेख शायद इस रूप मे दिखाई ही न देते। मेरा अनुमान है कि मैं पुस्तक की सीमाओं से परिचित हूँ। फिर भी, यदि यह पुस्तक नाट्यालोचकों और रगकर्मियो के बीच की खाई को कम करने अथवा रगमच के व्यावहारिक-पक्ष की ओर विज्ञ समीक्षकों-पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने मे कुछ सहयोग दे सके तो मै इस प्रारम्भिक एवं विनम्र प्रयास को निरर्थक नहीं समझूँगा।

—**जयदेव तनेजा**

हिन्दी विभाग
आत्माराम सनातन धर्म कालेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली-११००२१

अनुक्रम

पृष्ठ

१. समकालीन हिन्दी नाटक ११

सगुन पंछी/करफ्यू/सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक/आठवां सर्ग/देवयानी का कहना है/तिलचट्टा/एक और अजनबी/लौटता हुआ दिन/एक मशीन जवानी की/एक से बढ़कर एक/शुतुरमुर्ग, बकरी/रसगन्धर्व/बुलबुल सराय/एक सत्य हरिश्चन्द्र/यक्षप्रश्न/उत्तर-युद्ध/कथा एक कंस की/युद्धमन, एक और द्रोणाचार्य/अग्निलीक/हानूश, तीन-एकान्त/काठ महल/विदेशी और प्रादेशिक भाषाओं से अनूदित नाट्य-कृतियां

२. हिंदी एकांकी : एक ऐतिहासिक परिदृश्य ५५

३. फिल्म और रंगमंच—एक ६६

४. फिल्म और रंगमंच—दो ७५

५. आम आदमी का नाटक और समांतर रंगमंच ८५

६. समकालीन हिंदी रंगमंच—एक ९५

७. समकालीन हिंदी रंगमंच—दो १३७

आधे-अधूरे/आठवां सर्ग/अन्धों का हाथी और मारीच सम्वाद/सबसे नीचे का आदमी/बुलबुल सराय/जुलूस/ द फादर/बेगम का तकिया

८. रंग-साक्षात्कार १५५
(क) नाटककार लाल से सम्वाद : पूर्वाभ्यास से पटाक्षेप तक १५५
(ख) रचनाकार की अनिवार्य नियति है अकेलापन : १६३
—सुरेन्द्र वर्मा
(ग) हिन्दी रगमंच ही भारतीय और राष्ट्रीय रगमंच है १६७
—जे० पी० दास
(घ) रंगमंच और फिल्म का फर्क १७४
—गिरीश कार्नाड
(ङ) राष्ट्रीय रंगमंच की भाषा हिन्दी ही होगी १७६
—राजिन्दरनाथ
(च) रिचुअल थ्येटर का पुनरुत्थान १७६
—एम० के० रैना
(छ) दर्शकों को नही अपने आप को सुधारिए १८२
—व्ही० राममूर्ति
परिशिष्ट १८७
नाट्यान्दोलन में समीक्षकों का योगदान : कुछ बुनियादी सवाल १८६

समकालीन हिन्दी नाटक

हिन्दी का नया नाटक और उसका नया रंगमंच विभिन्न रंग-प्रयोगों का उदाहरण है, किसी एक परम्परा का पालन नहीं। और न तो यह किसी बासी समाप्त रंग पद्धति का 'हैंग ओवर' ही है। हिन्दी का यह नया नाट्य अपने सही अर्थों में प्रयोग है जिसने नाटककार तथा रंगकर्मी को एक विशाल, अपूर्व कर्मक्षेत्र प्रदान किया। इस रंग उल्लास तथा नव-जीवन के पीछे, केवल बौद्धिकता ही नहीं। और यह सामर्थ्य अपने रंग-अन्वेषण तथा रंगमंच-प्रतिष्ठा में हिन्दी अथवा भारतीय रंगमंच की नयी पद्धतियाँ निर्धारित कर रहा है और साथ ही शैलियाँ भी निर्मित कर रहा है।

☐ डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

१

समकालीन हिन्दी नाटक

पारसी थ्येटर कम्पनियों के लोकप्रिय किन्तु असाहित्यिक-व्यावसायिक नाटकों के समान्तर कलात्मक हिन्दी नाटक और रंगमच के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हमारे नाट्य-साहित्य और रंगमंच के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। इसके बाद, भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग के उदात्त कथानकों और महान् चरित्रों के आधार पर निर्मित काव्य-समृद्ध, दर्शन-प्रधान, भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शिल्प के समन्वय से उद्भूत जयशकर प्रसाद के उन साहित्यिक और गौरवपूर्ण नाटकों का युग आता है जो अपनी रगमचीयता की सदिग्धता के बावजूद आज तक अपना महत्त्व बनाए हुए हैं। बर्नार्ड शॉ और इब्सन के प्रभाव से अभिभूत होकर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी मे बौद्धिक समस्या-नाटकों का सूत्रपात किया। प्रसाद और मिश्र के बीच भटकते हरिकृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पत, उदयशकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा इत्यादि के नाटक इसी दौर की रचनाएं है। अपनी सीमाओं के बावजूद पाठ्य-नाटक को रगमच से जोडकर उसे प्रत्यक्ष अनुभव का माध्यम बनाने की दृष्टि से उपेन्द्रनाथ अश्क का कृतित्व उल्लेखनीय है। परन्तु आधुनिकता के स्तर पर नाटक को गम्भीर, जीवन्त और महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक कला-माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल और विष्णु प्रभाकर जैसे रचनाकारों को प्राप्त हुआ है। इसी परम्परा को अपनी-अपनी प्रतिभा और कला से निरन्तर विकसित करते चलने वाले समकालीन नाटककारो मे सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, मुद्राराक्षस, बृजमोहन शाह, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मणि मधुकर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, दयाप्रकाश सिन्हा, शंकर शेष, भीष्म साहनी और प्रभातकुमार भट्टाचार्य इत्यादि के कुछ बहुमचित और उल्लेखनीय रंग-नाटकों की चर्चा मैं यहा कर रहा हूं।

सगुन पंछी

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल के नाट्य-लेखन की दो अलग-अलग धाराएं आरंभ से ही स्पष्टतः देखी जा सकती है। उनके समष्टिपरक चिन्तन और सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ-बोध की प्रखर अभिव्यक्ति हम **अंधा-कुआँ, रक्त कमल कलंकी, मि० अभिमन्यु, अब्दुला दीवाना,** तथा **एक सत्य हरिश्चन्द्र** इत्यादि मे देख सकते हैं तो दूसरी ओर **मादा कैक्टस, नाटक तोता मैना, रातरानी दर्पन, सूर्यमुख, करफ्यू** और **व्यक्तिगत** जैसे नाटको में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप को पहचानने तथा उनके रिश्ते के मूलाधार को तलाशने की बेचैन कोशिश भी अनायास ही देखी जा सकती है।

नर-नारी के परम्परित लोक-प्रतीक तोता-मैना को नट-नटी के रूप में प्रस्तुत कर १६६० मे डा० लाल ने **नाटक तोता मैना** लिखा था। उसका एक अंक मैना के पक्ष से है तो दूसरा तोता के पक्ष से और अंत में इन दोनों की शादी करवा देता है। अत एक गान से होता है—

> **तोता मैना की हुई जैसे मुराद पूरी**
> **ईश्वर आप सबकी करे वैसे मुराद पूरी**
> **यहाँ न पुरुष बड़ा यहां न नारि बड़ी**
> **दोनों एक रथ की धुरी············**

इस प्रकार गान, उपदेश, आशीष और मंगल-कामना के साथ लोक-कथात्मक सुखद-अंत तो हुआ परन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन-सी हमारी मुराद है जिसे तोता-मैना की मुराद की तरह पूरा करने के लिए नाटककार ईश्वर से प्रार्थना करता है ? लोक-कथा और उस नाटक में स्पष्टतः यह मुराद शादी ही है। परन्तु विवाह के बाद उनके सम्बन्ध किस तरह निर्धारित और परिचालित हुए, होते है या हो सकते हैं—असली नाटक तो यही है। स्त्री-पुरुष के संबंधों में जो संघर्ष है—जो लड़ाई-झगड़े, मुन-मुटाव के तत्त्व है—वही तो इस बात के साक्षी हैं कि दोनों दो जीवित शक्तियां है। शक्ति का काम ही है लड़ना, क्योंकि स्त्री-पुरुष के संदर्भ मे दोनों एक-दूसरे के पूरक है। जब पूरक तत्व मे गड़बड़ी आती है तब संघर्षों के अलावा कोई और चारा नहीं। यह संघर्ष ही सगुन है और इस सगुन का सहारा लेकर ही नाटककार ने **नाटक तोता मैना** को नये सिरे से दुबारा लिखकर **सगुन पंछी** के रूप में प्रस्तुत किया है।

संरचनात्मक दृष्टि से इस संगीत प्रतीक-नाटक में चार अंक हैं, जिनमे क्रमशः दो, दो, तीन और चार दृश्यो की योजना की गई है। आरम्भ पूर्वरंग मे होता है जिसमें नाटक के पात्र विविध पंछियों के रूप मे आकर मंगलाचरण गाते हैं। ममखरा किस्सा तोता-मैना की पुरानी कथा को नये जमाने के अनुरूप थेटर मे प्रस्तुत करने की बात कहता है। सब पात्र (पंछी) फ्रीज होते हैं और तब तोता और मैना के संवादों मे इस नर-नारी चरित्र-कथा की परम्परित संघर्ष-

गाथा शुरू हो जाती है। इसके तत्काल बाद नाटककार मसखरा और नीलकठ के माध्यम से कचनपुर के राजा अगध्वज तथा उनकी रानी के हजारा मोती और उन्हीं के राज्य में रहते पचन वीर नामक किसान और उसकी प्रेमिका की चतरी-मुदरी की मूल-कथा को अपने रंग-कौशल से अत्यन्त चातुर्यपूर्ण सहजता के साथ अन्तर्ग्रथित कर देता है।

पहले अंक के पहले दृश्य में पूर्वरंग के तोता-मैना क्रमशः पचम किसान और उसकी प्रेमिका गगा बन जाते हैं। यहा डा० लाल ने राजा-रानी तथा पंचम-गंगा को औरत-मर्द के दो वैपम्यपूर्ण रूपों में प्रस्तुत करने के लिए मच पर जिस समानान्तर दृश्य-योजना की सृष्टि की है वह न केवल अत्यन्त नाटकीय और रोचक ही है बल्कि नाटककार की मौलिक रग-प्रतिभा का अनूठा प्रमाण भी प्रस्तुत करती है। इसी दृश्य में पछियों का तुरन्त वहीं राजा के अधिकारी बन जाना और मूकाभिनय द्वारा नाट्य-व्यापार को आगे बढाना भी एक अच्छी-रग युक्ति है।

राजा और रानी अविश्वास और सदेह के माध्यम से तथा पचम और गगा विरोध तथा सघर्ष के रास्ते से इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संबधो मे तनाव, विरोध और सदेह शाश्वत है ठीक उसी प्रकार इन सबके बावजूद उनका परस्पर मिलन और प्रेम भी सनातन है। डा० लाल के शब्दों में—"तोता-मैना में इतना विरोध है, तनाव है, पर लोक-मानस या उसकी सहज चेतना फिर भी उनकी शादी कराके यह दिखाती है कि कुछ भी हो, दोनों को कही मिलना ही है। जिन्दगी सारे मतभेदो, विरोधों के बावजूद चलेगी। प्रकृति और पुरुष अलग-अलग शक्तिया है पर जहा वे मिल रही हैं, वहीं सृजन है और यही है सगुन।"[1] इसीलिए नाटक के अत मे राजा रानी के कान में हजारा मोती पहनाता है और पचम गगा के माथे पर पीली साड़ी फैला देता है। जीवन-नदिया की इस धारा मे ये दो सगुन पंछी परस्पर मिलकर एक हो जाते है और मसखरे की आशीम, राम-राम तथा प्रणाम के साथ ये 'खेल खतम' हो जाता है।

जहा तक कथ्य, विचार, विश्लेषण, निष्कर्ष का सम्बन्ध है डा० लाल का यह नाटक एक महत्त्वपूर्ण और उत्तेजक रचना है। निस्सदेह इसका फार्म भी मौलिक और आकर्षक है। बकौल निर्देशक बसी कौल के, "लाल ने सगुन पंछी के रूप में कोई पारम्परिक ज्यों का त्यों लोक नाटक नही लिखा, वरन् उन्होंने अपने लोक-नाटक, लोक रगमंच के किन्ही जीवन्त नाट्य-व्यवहारों, तत्त्वो, परम्पराओं और रूढियो का इस्तेमाल कर एक नया नाटक निर्मित किया है। एक रचना की है अपनी लोक-परम्पराओ के तत्त्वो के कलात्मक योग से।"[2] परन्तु मेरे विचार

---

१ सगुन पछी पृ० १५

२. वही, पृ० १७

से इसका कथ्य और इसका 'फार्म' अलग-अलग जितना रोचक और उत्तेजक प्रतीत होता है समग्रत नाट्य-रचना के रूप मे उसका वैसा तीव्र प्रभाव नही पडता । इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो सरचनात्मक दृष्टि से इसका लोक-कथात्मक ढाँचा डा० लाल के गहन-गम्भीर अति बौद्धिक विचार-तत्त्व को सभाल नही पाता और उसका संतुलन बिगड जाता है। दार्शनिक और सैद्धातिक उक्तिया न तो चरित्रों के जीवन-सत्य अथवा अनुभवों से उद्भूत प्रतीत होती हैं और न नाटक मे पूरी तरह नियोजित ही लगती है। दूसरे, इसकी सवाद-योजना और भाषा भी बड़ी अटपटी-सी है। पद्यात्मकता का भ्रम पैदा करने वाले संवाद न तो काव्यात्मक ही है और न ही गद्यात्मक—

भला नारी बोले ऐसी बात
करेजा मोरे खून बहे।

बार-बार ऐसा महसूस होता है कि नाटक के पात्र अपनी बात और भाषा भूलकर नाटककार का 'माउथ पीस' बन गए है। *अच्छी-भली खड़ी-बोली मे संवाद बोलते चरित्र जब अकारण ही व्रजभाषा या अवधी का प्रयोग करने* लगते हैं तो नाटक का समस्त प्रभाव खण्डित हो जाता है और स्वयं पात्र भी अविश्वसनीय से प्रतीत होने लगते है। अनुप्रासों और हास्यास्पद तुकों में बेतुके संवाद बोलता मसखरा भी फूहड़ हास्य के अतिरिक्त दर्शक-पाठक को और कुछ नहीं दे पाता। पचम और गंगा के सम्बन्ध में भी एक विसंगति के दर्शन होते हैं। पृ० २७ पर नीलकंठ के सम्वाद में गंगा को पचम की 'औरत' और 'पत्नी' कहा गया है जबकि बाद में सर्वत्र उसे 'प्रेमिका' माना गया है। पृ० ६१ पर तो गंगा स्वयं कहती है, "मैं तेरी बीवी नही जो तेरी बात सुनूं।" सुब्बाराव के निर्देशन में लिटिल थ्येटर ग्रुप दिल्ली की प्रस्तुति में इस नाटक की यह सभी सीमाएँ उभरकर सामने आई और इसी कारण एकाग्र एवं तीव्र नाट्यानुभूति की दृष्टि से यह प्रदर्शन दर्शकों पर कोई गहरा प्रभाव नही छोड़ सका। परन्तु इस संदर्भ में मेरा विश्वास है कि यदि हम इन चरित्रों को विशुद्ध प्रतीक पात्र ही मानें और तथाकथित यथार्थवादी कसौटी पर न कसे तो निश्चय ही हमें इतनी निराशा नही होगी और इस प्रतीक नाटक के साथ हम अधिक न्याय भी कर पायेंगे। कुल मिलाकर, अपनी सीमाओं के बावजूद 'सगुन पंछी' हिन्दी रग-मंच की एक ऐसी उल्लेखनीय कृति है जिसमें नाटककार लाल ने परम्परित लोक-कथा और शास्त्रीय रंग-तत्त्वों, कथा, सगीत, नृत्य, अभिनय एव काव्य के नाटकीय सयोग से एक मौलिक संगीत-लीला नाटक की सृष्टि की है।

करफ़्यू

परम्परागत सामाजिक मूल्यों पर प्रश्न-चिन्ह लगाने तथा नर-नारी अथवा पति-पत्नी के काम-सम्बन्धों के बदलते हुए स्वरूप को नये नाट्य-शिल्प में प्रस्तुत करने वाले डॉ० लाल के नाटकों में करफ्यू का विशेष महत्त्व है। इसमें दंगे-फसाद के कारण करफ्यू लगे शहर के माध्यम से बौद्धिक-शारीरिक और मानसिक वर्जनाओं से घिरे-बंधे मानव-जीवन की सूक्ष्म-त्रासद स्थितियों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। नाटककार ने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में परम्परागत नैतिक मूल्यों पर निर्मम प्रहार करके नैतिकता के प्रकृत-स्रोत की खोज में तमाम अवरोध (मुखौटे) तोड़कर व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में डाल दिया है; जहां व्यक्ति के पास स्वयं को अपने सही या वास्तव रूप में पहचानने और पहचान कर उसे स्वीकारने के अतिरिक्त और विकल्प नहीं रह जाता।

गौतम-मनीषा और सजय-कविता यानी मर्द-औरत के दो अलग-अलग जोड़े किस प्रकार परिस्थितिवश (करफ्यू के कारण) रात भर साथ-साथ रहने को विवश होते हैं और कैसे एक दूसरे के सान्निध्य से अपनी मान्यताओं, सीमाओं, संस्कारों, शर्तों और जकड़नों के भीतरी करफ्यू से मुक्त होते है— यह स्थिति अत्यन्त उत्तेजक और नाटकीय है। इसी स्थिति के माध्यम से नाटककार ने औरत-मर्द के आपसी रिश्ते की बुनियाद की तलाश की है।

जहां तक इस गहन सम्भावनापूर्ण वस्तु को नाटक में ढालने की बात है, करफ्यू के दो दृश्यों का कसाव और संरचना मे पिरोया हुआ चुस्त नाटक दर्शक-पाठक को पूरी तरह बांध रखने में समर्थ है। इन दृश्यों की भाषा और संवाद स्थिति और पात्रों से उपजे है और हिन्दी नाटक की उपलब्धि कहे जा सकते है। परन्तु तीसरे, चौथे और पांचवें दृश्य में नाटक बिखरता चला जाता है। सवाद नाटककार द्वारा निर्दिष्ट होने लगते है और पात्र नाटक से अलग धरातल पर खड़े होकर साहित्यिक, राजनीतिक, नाटक और जीवन, हिंसा और अपराध तथा जीवन, सत्य, नैतिकता जैसे अनेक गम्भीर विषयों पर बहस करने लगते है। अपने सीमित व्यक्तिगत अनुभवों का सामान्यीकरण करके बड़ी-बड़ी दार्शनिक उक्तियों से एक दूसरे को (या शायद दर्शक-पाठक को) प्रभावित करने का निरर्थक प्रयास करते रहते हैं। अन्त में मोमबत्तियां जलाकर सबका मत्र गाने लगना भी मूल नाटक पर आरोपित लगता है, और पहले दो दृश्यों के यथार्थवादी, विश्वसनीय और तर्कसम्मत चित्रण से यह आध्यात्मिकता किसी स्तर पर भी मेल नही खाती। नाटक देख-पढ़कर ऐसा लगता है कि भूत, वर्तमान और भविष्य की छोटी-बड़ी सभी समस्याओं का मात्र एक ही समाधान है—उन्मुक्त कामवृत्ति (फ्रीसेक्स)। सतही शारीरिक काम-तृप्ति के बाद सत्य, मुक्ति आत्म-साक्षात्कार की बड़ी-बड़ी बातें करते हुए ये पात्र अन्त तक पहुँच कर एकदम झूठे, अविश्वसनीय, बनावटी

और हिपोक्रिट लगने लगते हैं। अनेक स्थानों पर ऐसी संवाद-योजना है, जिसका उद्देश्य समझ में नहीं आता :—

संजय : सुनो तो—
कविता : सुनो तो—
संजय : तुम पहले—
कविता : तुम पहले—
संजय : मैं पूछ रहा था—
कविता : मैं पूछ रही थी—
संजय : आज सारी रात यही होगा।
कविता : आज सारी रात यही होगा।
संजय : देखो, बोर मत करो।
कविता : देखो, बोर मत करो। (पृ० ६५)

और दर्शक-पाठक भी अन्ततः नाटककार से यही कहने पर विवश हो जाता है कि 'देखो, बोर मत करो।' कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि 'करफ्यू' अंशों में सशक्त, प्रभावपूर्ण और उत्तेजक है परन्तु सम्पूर्णता में उतना सफल नहीं हो पाता। काश ! डॉ० लाल ने इसके कथ्य को सीमित से असीमित तक प्रक्षेपित करने का प्रयास न किया होता।

सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक परिवेश का नाटक है परन्तु इसका कथ्य, शिल्प, प्रस्तुति-दृष्टिकोण और इसकी समस्याएं एकदम आधुनिक हैं। यह नाटक समसामयिक स्तर पर मूल्यों के बदलाव के संदर्भ में दाम्पत्य-सम्बन्धों की गहरी और बारीक छानबीन करने के साथ-साथ शासक और शासन-तन्त्र के आपसी रिश्ते के विश्लेषण के माध्यम से सत्ता-तन्त्र के समक्ष स्वयं सत्ताधारी की विवशता, नपुंसकता और त्रासदी को भी रेखांकित करता है।

मल्लराज्य को यथासमय उत्तराधिकारी दे पाने में असमर्थ राजा ओक्काक से निराश होकर अमात्य परिषद् (पति-पत्नी की इच्छा के विरुद्ध) नियोग के द्वारा रानी को पुत्र प्राप्त करने का आदेश देती है। यह घटना पति-पत्नी के सहज और शान्त प्रतीत होने वाले सम्बन्धों में कैसे एक भूकंप ला देती है और कैसे उनका अटूट रिश्ता तार-तार होकर बिखरता चला जाता है—पुस्तक जीने से लेकर जीवन जीने तक की इस साहसिक, उत्तेजक, और यातनापूर्ण यात्रा का प्रामाणिक दस्तावेज है—यह नाटक।

रूप-गठन और संरचना-शिल्प की दृष्टि से तीन अंकों का यह नाटक पूर्णतः

नाटककार ने दृश्य-बंध को पर्याप्त लचीला बनाकर ओक्काक यथा महत्तरिका और प्रतोप तथा शीलवती के समानान्तर चलते दृश्यों को, उनके पूरे वैषम्य और नाट्य-वैभव के साथ कलात्मकता से प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण नाटक प्रायः दो-दो पात्रों के सवादो के माध्यम से आगे बढता है। आरम्भ मे प्रतिहारी और महत्तरिका के वार्तालाप द्वारा प्रमुख पात्रों की विवशतापूर्ण मनःस्थिति तथा समारोहपूर्ण वातावरण के भीतर की उदासी को प्रतिष्ठित कर चुकने के बाद महामात्य और महत्तरिका के सवादो से किसी भयकर किन्तु महत्त्वपूर्ण घटना की आशका का सकेत दिया गया है। महामात्य, राजपुरोहित, महाबलाधिकृत तथा ओक्काक के कथोपकथन मे दर्शक-पाठक की जिज्ञासा के तारों को लगातार कसा जाता है। "क्या समस्या···कैसी समस्या · ?" से लेकर क्रमश. 'योजना', 'ढग', 'ग्लानि' और 'क्रातिकारी पग' से लगातार उद्दीप्त होता हुआ कुतूहल 'नियोग की प्रथा' पर जाकर टूटता है। प्रमुख पात्रों के सम्बन्धो और उनकी प्रतिक्रियाओं को लेकर जिज्ञासा आद्यन्त बनी रहती है और दर्शक-पाठक घटनाओ के द्रुत-असम्भावित मोडों के अभाव के बावजूद स्वय को मत्र-विद्ध-सा अनुभव करता है।

चरित्राकन की दृष्टि से नाटककार ने अपने पात्रों—विशेषत प्रमुख पात्रों—को जीवन्त और स्वाभाविक बनाने के लिए मनोविज्ञान का कलात्मक उपयोग किया है। ओक्काक की नपुसकता के कारणो और उसके जीवन-इतिहास मे यौन-मनोविज्ञान के 'नपुसकता और मैथुनिक शीतलता' जैसे अध्यायो का सारतत्त्व आ गया है। चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से प्रसाद के **ध्रुवस्वामिनी** और वर्मा के **सूर्य की अतिम किरण**······' की तुलना दोनो युगों और रचनाकारों के इतिहास-बोध, कला-चेतना एव प्रयोग-दृष्टि के मूल-भूत अतर को रेखाकित करती है। प्रसाद जहा रामगुप्त को खलनायक तथा हास्यास्पद बनाकर चन्द्रगुप्त को विकल्प के रूप मे प्रस्तुत करके सरलीकृत त्रिकोण-कथा को अपनाते है वही सुरेन्द्र ओक्काक को ईमानदार, सच्चा, प्रेमी और नपुसक होने के बावजूद नायक ही बना रहने देते हैं। ओक्काक वितृष्णा, घृणा और क्रोध के स्थान पर व्यक्ति की विवशता, पीडा और त्रासदी को प्रामाणिकता और जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करता है। इसकी आधुनिकता का एक प्रमाण यह भी है कि यहा किसी भी व्यक्ति को पूरी तरह सही या गलत कहना कठिन है। अतिम सवाद मे ऐसा भ्रम होता है जैसे प्रतोप के दैहिक सम्मोहन के सामने शीलवती ओक्काक को दोषी और छोटा मान रही है, परन्तु अगली ही पक्ति में वह इसे व्यक्तिगत सुख की अधी दौड की विडम्बना कह कर ओक्काक को दोषमुक्त भी कर देती है।

काम-सम्बन्धो के कमनीय-उदात्त चित्रण की दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा हिन्दी नाट्य-साहित्य में अद्वितीय है। परन्तु इनके लेखन का मूल सरोकार 'सभोग-सुख'

न होकर घर-परिवार और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की छानबीन में है और सेक्स इसका एक अनिवार्य माध्यम है। यही कारण है कि उद्दाम संभोग के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रणों, अनुभावों, क्रियाओं और मुद्राओं के जीवन्त और प्रखर प्रस्तुतीकरण के बावजूद वह कहीं भी अश्लील या कुत्सित नहीं होते। अभिव्यक्ति संयम, अभिप्रेत के सटीक सम्प्रेषण की क्षमता और संवेदनशील, काव्यात्मक तथा तनावपूर्ण सर्जनात्मक नाट्य-भाषा के अनुसंधान और प्रयोग के साथ-साथ अभिनव शिल्प-प्रयोगों के द्वारा ही यह सब सम्भव हो सका है। प्रभावशाली नाट्य-बिम्बों से निर्मित इस नाटक के मायावी संसार में कहीं क्रिया-व्यापार शब्दों का पर्याय बन जाता है तो कहीं 'मौन' तीव्र नाट्य-क्षणों की सृष्टि करता है। पहले अंक में 'विराम' का प्रयोग अत्यन्त सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। इससे तनाव और घुटन को गहराया गया है।

नाट्य-विडम्बना इस नाटक की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसका विस्तार चरित्रों, स्थितियों और संवादों से लेकर शब्दों तक है। पहले अंक में शीलवती और महामात्य की स्थिति और 'मछली की आँख' वाले संवाद के मुकाबले तीसरे अंक के इसी प्रसंग की विडम्बना द्रष्टव्य है। 'शीलवती' तथा असूर्यस्पर्शी जैसे नामों-विशेषणों तक में गहरी नाट्य-विडम्बना का समावेश किया गया है।

सुरेन्द्र वर्मा एक कुशल रंग-शिल्पी है। इस नाटक के पहले अंक में महत्तरिका द्वारा गवाक्ष के माध्यम से प्रस्तुत राजप्रांगण का विवरण शास्त्रीय दृष्टि से 'सूच्य' और 'दृश्य' का एक मिश्र-प्रयोग है। नाटककार यहां वैभवपूर्ण, रमणीय एवं भव्य समारोह के दृश्य के स्थान पर उस समारोह से ओक्काक के मन पर पड़ने वाले जिज्ञासा, विवशता, करुणा, क्रोध, दु.ख, विह्वलता और पराजय के भावों-प्रभावों को प्रस्तुत करके उस तथ्य के भीतर के सत्य को हमारे सामने उजागर करना चाहता है। दूसरे अंक में ओक्काक के संवाद, "ओह ''. (गवाक्ष तक आ जाता है। धीरे-धीरे) चारों जागेंगे सारी रात ''' चक्रवाक- '''मैं ''''' कुमुदनी ''' और चन्द्रमा '''''।" के साथ दृश्य का विलय और क्षण भर के अंधकार के बाद ठीक वहीं शीलवती और प्रतोष के मिलन-दृश्य का उदय चामत्कारिक, व्यंजनात्मक और सुन्दर है। पहले अंश में चक्रवाक (जो महादेवि के हाथ से मृणाल रस न पाने के कारण व्याकुल है) और 'मैं' यानी ओक्काक का जागना हम देख चुके हैं। इस संवाद के तत्काल बाद का दृश्य हमें कुमुदनी अर्थात् शीलवती और चन्द्रमा यानी प्रतोष के जागने का रूप दिखाता है। इन दोनों प्रकार के—'जागने' के वैषम्य से नाटककार ने गहरी नाटकीयता पैदा की है। काम-चित्रण के प्रसंगों में भी 'स्मृत्यावलोकन' जैसी मौलिक और प्रभावपूर्ण तकनीक का प्रयोग किया गया है जो 'फ्लैश बैक' और वर्तमान के प्रत्यक्ष प्रस्तुतीकरण के अद्भुत संयोग का परिणाम है।

इसके लम्बे और दुहरावपूर्ण शीर्षक में काव्यात्मकता, सगीतमयता और वक्तव्य के बलपूर्ण आग्रह के साथ-साथ समय का एकदम निश्चित-निर्भ्रान्त निर्धारण भी है। नाटक चूकि ओक्काक और शीलवती के एक-एक पल और एक-एक सास का भावनात्मक इतिहास प्रस्तुत करता है, इसलिए 'अंतिम' और 'पहली' किरण का निश्चित एकाग्र और अलगावपूर्ण सकेत भी महत्त्वपूर्ण है। 'सूर्य' शब्द की आवृत्ति उद्घोषणा के उच्चरित स्वर को एक ऊर्ध्वता और शक्ति देती है। पति-पत्नी के परम्परागत सम्बन्धो की जडता और घुटन के अधकार से स्वच्छन्दता और मुक्तता की पहली प्रकाश किरण तक की यात्रा को प्रस्तुत करने के कारण भी यही नाम उचित प्रतीत होता है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य और रगमच के इतिहास में यह नाटक निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

आठवां सर्ग

सुरेन्द्र वर्मा का नया नाटक **आठवां सर्ग** यू तो किसी हद तक स्त्री-पुरुष सम्बन्धो का ही नाटक है परन्तु सूक्ष्मता से देखे तो इसकी धुरी, समस्या तथा उद्देश्य की गहराई और बहुआयामिता इसे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण नाटक मानने पर बाध्य करती है। महाकवि कालिदास के महाकाव्य 'कुमारसम्भव' के विवादास्पद 'आठवे सर्ग' के उद्दाम शृंगार-चित्रण की श्लीलता-अश्लीलता के बहाने से यहां नाटककार ने समसामयिक राजकीय सैसरशिप की उस ज्वलत समस्या को उठाया है—जिसका शिकार पिछले वर्षों मे भारतवर्ष के अनेक प्रतिभावान रचनाकार होते रहे है। नैतिकता-अनैतिकता, श्लीलता-अश्लीलता और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य बनाम राज्याश्रम जैसे अत्यन्त मूलभूत और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से जूझने वाला यह नाटक आरभ मे हत्या नाम से 'कथा' मे प्रकाशित तथा रेडियो से प्रसारित होकर चर्चित हो चुका था। परन्तु स्वय नाटककार इस नाटक की परिणति मे संतुष्ट नही था। परिणामस्वरूप एक लम्बे अतराल के बाद, सोल्झेनित्सिन पर 'टाइम' मे प्रकाशित एक लेख से प्रेरणा ग्रहण करके इसका तीसरा अक (दो दृश्य) और लिखा गया तथा पहले के दोनो अकों का पुनर्लेखन कर के उस साहित्यिक रेडियो-नाटक को **आठवां सर्ग** नामक श्रेष्ठ रंग-नाटक का रूप प्रदान कर दिया गया।

काम की वैतालिक कोयल की कूक एवं प्रियंवदा के कोमल मधुर कठ से **ऋतुसंहारम्** के छठे सर्ग के वसतागमन सम्बन्धी दूसरे श्लोक के सस्वर पाठ तथा कामोत्सव और कालिदास के राजकीय सम्मान की तैयारी से नाटक का रोचक आरम्भ और उद्घाटन होता है। इसके बाद दो-दो पात्रों के संवादों से विकसित होता हुआ यह नाटक सत्ता के समक्ष कलाकार की असहायता और उसके बाद जन सामान्य के हृदयों में स्थान पाकर शासन के समक्ष उसके

एक विराट शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होने के अंत तक जा पहुंचता है। नाटककार के अनुसार नैतिकता का स्रोत पुस्तक नहीं स्वयं जीवन है और पति-पत्नी के बीच अश्लीलता का प्रश्न ही निरर्थक है, दृष्टिकोण का अधूरापन ही उसे अनुचित और अश्लील बना देता है।

नाटक की गणितीय चुस्त-दुरुस्त संरचना में पात्रों के नाटकीय प्रवेश प्रस्थान ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रथम अंक में पूर्वाभ्यास के बहाने कालिदास द्वारा प्रियंगु के सामने कुमारसंभव के पूर्ववर्ती सात सर्गों की संक्षिप्त रूप-रेखा तथा सम्मान से पूर्व दिए जाने वाले रचनाकार के भाषण की चतुर योजना नाटककार की प्रतिभा का प्रमाण है। इससे स्थिति की विडम्बना को गहराने तथा संगत संदर्भ देने में पर्याप्त सहायता मिलती है। परन्तु संरचनात्मक गठन और कलात्मकता की दृष्टि से नाटक का तीसरा अंक शिथिल है। दूसरे अंक की समाप्ति पर नाटक एक निश्चित अंत का आभास देता है और वहां आगे कुछ हो सकने की किसी सम्भावना का कोई संकेत पाठक-दर्शक को नहीं मिलता।

आरम्भ में अनसूया-प्रियंवदा के संवादों के माध्यम से कालिदास और प्रियंगुमंजरी के कमनीय एवं उद्दाम काम सम्बन्धों की रमणीय झांकी, मध्य में कालिदास तथा धर्माध्यक्ष के बीच तनावपूर्ण, तीखी और तीव्र नाटकीय टकराहट तथा अंत के आस-पास प्रियंगुमंजरी के समक्ष कीर्तिभट्ट द्वारा उसके अस्तित्व के संकट के सन्ताप का हास्य—विवेच्य नाटक के रमणीय प्रसंग हैं।

चरित्रगत वैविध्य, जटिलता और अभिनय के लिए चुनौतीपूर्ण भूमिका की दृष्टि से कालिदास का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है।

नाटक के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश की सृष्टि के लिए नाटककार ने उस काल में विशेष रूप से प्रचलित पेड़-पौधों, फूलों, आभूषणों, वाद्य-यंत्रों, अपशकुनों, कवि-प्रसिद्धियों उत्सवों, रीति-रिवाजों और पूर्ववर्ती एवं समकालीन लेखकों के नामों-उद्धरणों इत्यादि का कलात्मक उपयोग किया है।

संवेदनशील रचनात्मक भाषा और पात्रों की आंतरिक आवश्यकताओं से उद्भूत विशिष्ट लय-युक्त संवाद-रचना सुरेन्द्र वर्मा की विशिष्ट उपलब्धि है। मूल समस्या की समकालीनता और रचनाकार की आधुनिक दृष्टि एवं प्रस्तुति के कारण **आठवां सर्ग** गुप्तकालीन ऐतिहासिक परिवेश और पात्रों के बावजूद आज का एक महत्वपूर्ण रंग-नाटक है।

देवयानी का कहना है

औरत-मर्द के रिश्ते को परखनली में डालकर जांचने-परखने वाला एक और महत्वपूर्ण नाटक है—*देवयानी का कहना है*। कथाकार रमेश बक्षी के इस प्रथम नाटक का नायक साधन बैनर्जी है जो इरा दास, रेखा स्वामिनाथन और निशि नायर से होता हुआ नाटक की नायिका देवयानी गुप्त तक पहुंचा है। और

देवयानी के लिए साधन—कौन से नम्बर पर है उसे याद नहीं, क्योंकि उसके अनुसार यह सब याद रखने में वक्त जाया होता है। वह साधन से विवाह (?) इसलिए करती है, क्योंकि 'अविवाहित बिस्तरबाजी में खर्च अधिक है, डर ज्यादा है।' 'वन एगन इज नाट एनफ फार होल आफ द लाईफ, टेस्ट मोर' की सार्वजनिक घोषणा करने वाली घोर व्यक्तिवादी देवयानी को लेकर नाटककार विवाह नामक सामाजिक संस्था की उपयोगिता परखता है और दो असामान्य व्यक्तियों के समझौता न कर पाने की व्यक्तिगत विवशता को विवाह अथवा परिवार की निरर्थकता का अटूट प्रमाण मान लेता है।

अविवाहित साधन और देवयानी एक दिन एक साथ एक कमरे में रहने का निर्णय ले लेते हैं और सम्बन्धियों-परिचितों से कहते हैं कि उन्होंने विवाह कर लिया है। पहले दिन वह लडते-झगडते हुए पति-पत्नी के परम्परागत स्वरूप से हटकर नर-नारी के परस्पर साथ रहने की किसी नयी शर्त या किसी नये नाम वाले नूतन सम्बन्ध की खोज का असफल प्रयास करते हैं। दूसरे दिन देवयानी एक वेश्या की तरह व्यवहार करके सम्बन्धों को निर्धारित करने की बेकार कोशिश करती है। और तीसरे दिन उसकी तमाम युक्तियों तथा कोशिशों के बावजूद विवाह के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला 'रिसेप्शन' 'फेयरवेल' बन जाता है। लेखक का यह दावा है कि तीन दिन का यह नाटक तीस वर्ष भी चल सकता था, पर उससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

इसके संवादों में एक तेजी, रवानी और आक्रामकता है। भाषा का बेझिझक नंगापन देवयानी के चरित्र से मेल तो खाता है, फिर भी उसके मूल में चौंकाने की भावना निस्सन्देह विद्यमान है। तिवारिन जी और पटेड़िया के संवादों में 'श' को 'स' कहने की आदत कहीं भी निभ नहीं पाई है। हल्की जुमलेबाजी के बावजूद भाषा प्रभावित करती है। नाटक पर कथाकार हावी है और पात्र जीवन जीते हुए नहीं लगते, नाटक करते से प्रतीत होते हैं। कुल मिलाकर देवयानी का [illegible] अतिरंजना से चौंकाता तो है, झटका [illegible] उत्पन्न नहीं कर पाता।

तिलचट्टा तथा एक और अजनबी

इसी विषय-वस्तु और भावभूमि के दो और उल्लेखनीय नाटक हैं—*तिलचट्टा तथा एक और अजनबी*। मुद्राराक्षस का नाटक *तिलचट्टा* देव (पति) और केशी (पत्नी) के बेडरूम मनोविज्ञान का सूक्ष्म एवं नाटकीय विश्लेषण करने वाला नाटक है। बिस्तर पर आने के बाद हर रात एकसा जीवन जीते हुए तथा कुछ यान्त्रिक सी क्रियाएं दोहराते-दोहराते पति-पत्नी ऊब जाते हैं, तब चुपचाप उन दोनों के बीच एक तीसरे अदृश्य आदमी का आगमन हो

जाता है—कभी 'काले डाक्टर' के रूप में, कभी 'बकरे की बोली बोलने वाले आदमी' के रूप में। यह आदमी प्रायः मुख्य द्वार से न आकर रोशनदान या खिड़की के रास्ते घर में प्रवेश करता है और इसके बाद पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध धीरे-धीरे ठण्डा होकर मरने लगता है। इस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्य को जिन प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से नाटककार ने मूर्तरूप देकर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है, उसमें यह बात तो प्रमाणित हो ही जाती है कि मुद्राराक्षस को अपने माध्यम की सही पहचान है और वह रंगमंच के व्याकरण से भली भांति परिचित हैं। परन्तु प्रतीकों के आधिक्य और अन्विति के अभाव के कारण नाटक का प्रभाव अन्त तक बना नहीं रह पाता।

मृदुला गर्ग का नाटक **एक और अजनबी** (नटरंग : अप्रैल–जून १९७२ में प्रकाशित) भी स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों का नाटक है। इसमें रानी-जगमोहन तथा स्त्री-पुरुष के दो जोड़ों को आमने-सामने रखकर प्रेम और विवाह की जटिल समस्या को विभिन्न कोणों से देखने का प्रयास किया गया है। आगे बढ़ने की दौड़ में मानवीय और विशेषकर नैतिक मूल्य किस प्रकार निरन्तर बिखरते जा रहे हैं, इसे मणि और इंदर खोसला के विरोधी चरित्रों द्वारा प्रकट किया गया है। इस नाटक में 'धुड़ी' के परम्परागत गानों और रुई धुनने की तिरन-तिरन का अत्यन्त नाटकीय और प्रभावपूर्ण उपयोग हुआ है। काम-सम्बन्धों से प्रत्यक्षतः जुड़े होने के बावजूद नाटक बहुत साफ-सुथरा है। लेखिका ने सैक्स को कहीं भी अतिरंजित, आक्रामक और आरोपित रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। बोलचाल की सहज भाषा, छोटे-छोटे तीखे संवाद, तीन अंक और प्रत्येक अंक में दो दृश्य, दृश्य–बंध और प्रकाशयोजना भी सरल-सहज–कुल मिला कर नाटक अच्छा है और सीमित साधनों में भी मंचित किया जा सकता है। परन्तु विश्लेषण में गहराई का अभाव और पात्रों एवं स्थितियों का सरलीकरण नाटक को उपलब्धि नहीं बनने देते।

लौटता हुआ दिन

अब मैं यहां एक ऐसे नाटक की चर्चा करना चाहूंगा, जो पुराने, काफी चर्चित नाटक का नया रूप है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने कैदे हयात नाम से सन् १९४३ में एक उर्दू रेडियो नाटक लिखा था, जो पर्याप्त प्रसिद्धि पाकर १९५० में हिन्दी में **कैद और उड़ान** नामक संग्रह में छपा। **लौटता हुआ दिन** उसी कैद का संशोधित, परिवर्तित रंगमंचीय रूप है। इसमें कुछ नये पात्रों का सृजन भी हुआ है और अन्त भी थोड़ा परिवर्तित हो गया है। अनचाही अटूट वैवाहिक बेड़ियों से जकड़ी अप्पी (अपराजिता) अखनूर की एक पुरानी हवेली में मानो जिन्दगी भर के लिए कैद है। नाटक अप्पी के जीवन की नीरसता ऊब, व्यर्थता और उदासी को प्रस्तुत करता है। दूर के रिश्ते के भाई और

पुराने प्रेमी दिलीप के आने पर जैसे अप्पी का पुराना दिन लौट आता है। वह कुछ देर के लिए उस कैद से मुक्त होती है, परन्तु दिलीप के जाते ही वह दिन फिर से वापस लौट जाता है। दिलचस्प बात यह है कि अप्पी, प्राणनाथ (अप्पी के पति), दिलीप, वाणी (दिलीप की नई प्रेमिका) सबकी अपनी-अपनी कैद है। सम्भावना के स्तर पर यह नाट्य–स्थिति अत्यन्त उत्तेजक, तनावपूर्ण और प्रखर है। परन्तु नाटक पढ़कर उतना गहरा प्रभाव नही पड़ता, जितना अपेक्षित था। १९७२ मे पुनः लिखने के बावजूद उसके कथ्य मे १९४०–४५ के हिन्दी साहित्य वाली रोमानियत अब भी विद्यमान है। स्थितियों का सरलीकरण और एकायामी पात्रों का तनावहीन व्यवहार नाटक को सतही बना देता है। 'तबियत फिर क्या कुछ खराब है आज।' या '———जिस दिन अप्पी इस दुनिया में खूबसूरती पैदा हुई थी।' जैसे संवादों की भाषा किसी भी दृष्टि से सुष्ठु और नाटकीय नही कही जा सकती।

नाटक में अप्पी की त्रासदी का एक मात्र कारण यह है कि वह दिलीप से विवाह नही कर पाती। आज के जटिल एवं संश्लिष्ट जीवन मे इतनी बड़ी त्रासदी का यह कारण निहायत टुच्चा और बेबुनियाद लगता है। अश्क यदि अप्पी और प्राणनाथ के रिश्ते को थोड़ा और गहराई से देखते तो उन्हे इनके बीच की दरार के अनेक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण भी मिल जाते। यही वह बिन्दु है, जहा से उपर्युक्त समीक्षित सभी नाटक इससे काफी आगे के नाटक लगते है।

एक मशीन जवानी की

एक मशीन जवानी की सतोपनारायण नौटियाल का एक महत्त्वपूर्ण हास्य नाटक है। बिल्कुल सीधी-सरल कहानी, एकदम सहज-स्वाभाविक शिल्प, बोलचाल की मुहावरेदार भाषा और पात्रानुकूल चुटीले सवाद, नाटकीय स्थिति से उत्पन्न हास्य और उसके भवर में घनचक्कर बने पात्र पाठक-दर्शक को बरबस हसा देते हैं।

यूनीवर्सिटी के एक अनुसंधाता प्रोफेसर से कबाड़ी कल्लन द्वारा नीलाम में खरीदी गई एक अधूरी मशीन जब अकस्मात् ठीक हो जाती है और सयोग से उसमे बंद हो गई उसकी प्रौढ़ बीवी हुस्नआरा जवान बनकर निकल आती है तो उस घर में कैसा तूफान मचता है, यह प्रहसन देख-पढ़कर ही जाना जा सकता है। तीनों अंकों के लिए एक ही दृश्यबंध मंचीकरण की दृष्टि से काफी सुविधाजनक है। यह एक ऐसा नाटक है जिसे कोई भी सस्था, जन-सामान्य के समक्ष काफी सीमित साधनों में भी प्रस्तुत कर सकती है।

एक से बढ़ कर एक

राजेन्द्र कुमार शर्मा का हास्य-नाटक **एक से बढ़ कर एक** कुछ हल्की-फुल्की रोचक स्थितियों के माध्यम से एक परिवार के सदस्यों के आपसी राग-द्वेष और स्वार्थपरता पर प्रहार करता है। लाला सूरज प्रसाद के तीन पुत्र हैं, जिनमें से प्रत्येक मन ही मन पिता के मरने और विरासत में मिलने वाले पैसे को अकेले हड़प कर उजाड देने के चक्कर में है। हर किसी में कोई न कोई लत है जिसे लेकर वह दिवा-स्वप्न देखता है। अपने मित्र हकीम के साथ मिल-कर लाला सूरज प्रसाद झूठ-मूठ ये खबर प्रचारित करवाते है कि उनके हृदय मे छेद है और वह दो मास के अंदर-अंदर मरने वाले है। सबके सब उनके इस जाल मे फँस जाते है। तीसरे अंक में पिता की मृत्यु से मन ही मन प्रसन्न और गद्गद् तथा ऊपर से रोने-धोने का नाटक करते इन पात्रों के माध्यम से नाटक-कार ने मध्यमवर्गीय जीवन के दोगलेपन पर करारा व्यंग्य किया है। हर व्यक्ति यहा अपने आपको सर्वाधिक बुद्धिमान और चतुर मानकर दूसरे को धोखा देना चाहता है और इन सबसे बढ़कर है इनके पिता जो अंत मे मानो इनके चेहरो के नकाब उतारकर इनके हाथों में पकडाकर इन्हे नंगा कर देते है।

नाटक में कुछ प्रसग दिलचस्प और अच्छे हैं जैसे—दीपक-निर्मला की फिल्म चर्चा, एक रुपए का लालच देकर पिंकी को बाहर भेजना, शीला की चिन्ता और विजय का एक्सीडेंट, लीला का कमर दर्द और जलेबियाँ तथा कमला-विमला और तीरथराम का अफसोस-प्रदर्शन। परन्तु ये नाटक पिता-पुत्र सम्बन्धों की विडम्बना की दृष्टि से उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक **छठा बेटा** की याद दिलाता है और कुल मिलाकर सरलीकृत स्थितियों, एकायामी अति-रंजित पात्रों तथा सपाट भाषा-प्रयोगों के कारण एक सामान्य हास्य नाटक के स्तर से ऊपर नही उठ पाता।

शुतुरमुर्ग

हिन्दी मे तीव्र नाट्यानुभूति देने वाले अच्छे राजनैतिक-व्यंग्य नाटकों की कमी ही सम्भवतः वह मूल कारण है कि विगत एक दशक से ज्ञानदेव अग्निहोत्री का **शुतुरमुर्ग** रंगकर्मियों, दर्शकों और पाठको को समान रूप से आकर्षित और प्रभा-वित करता रहा है।

शुतुरमुर्ग एक व्यंग-प्रधान प्रयोगवादी नाटक है। सत्ता के सम्मोहन और उसके खोखले किन्तु चालाक चरित्र की विडम्बना का नाटकीय उद्घाटन ही यहा रचनाकार का उद्देश्य है। सूत्रधार के आवाहन पर राजा के साथ-साथ उसके अनुभवों के मध्य से होकर यात्रा करना अपने आप में एक तकलीफदेह तीव्र, उत्तेजक और रोचक अनुभव है। शुतुरनगरी का राजा मानव-स्वभाव मे बहुत दूर तक धंसी हुई पलायनवादी शुतुरमुर्गी प्रवृति को बहुत अच्छी तरह

जानता–पहचानता है, क्योंकि वह स्वयं एक 'सचेतन शुतुरमुर्ग' है। अपनी शक्ति, सत्ता और व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा के लिए वह अपने इस ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करता है। सोने की 'शुतुर प्रतिमा' के निर्माण और उसके स्वर्ण-छत्र की स्थापना जैसे 'महान' कार्य के बहाने से वह अपने मन्त्रियों को निरंतर अधिक से अधिक स्वर्ण मुद्राओं का दान देकर भ्रष्ट करता है और अपने सिंहासन (कुर्सी) तथा वर्तमान की रक्षा के लिए उन्हें भोगविलास में डुबोए रखता है। राजा अपनी कूटनीति से विरोधीलाल को सुबोधीलाल में रूपान्तरित करके उसे मामूलीराम यानी व्यापक जन-समुदाय से काटकर व्यवस्था की बड़ी मशीन के एक सामान्य से पुर्जे में बदल देता है। परन्तु अन्ततः मामूलीराम बदली हुई परिस्थितियों की सूचना देता है और अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं तथा स्वार्थों के कारण प्रजा से जुड़ने वाले ये तमाम मन्त्रीगण तथाकथित 'देशहित' में स्वयं सत्ता संभाल लेते हैं और विवश राजा उन्हें अपना वंशज होने का वरदान या अभिशाप देकर मंच से हट जाता है।

संरचना-शिल्प की दृष्टि से यह नाटक विविध रंग-रूढ़ियों की प्रयोगधर्मी रचना है। नाटककार ने इसमें भारतीय प्राचीन शास्त्रीय नाट्य-रूढ़ियों के साथ-साथ विदेशी 'एब्सर्ड', 'फार्स' और 'यथार्थवादी' रंग-रूढ़ियों के सम्मिश्रण से एक ऐसा अभिनव शिल्प प्रयोग किया है जो प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से, 'स्टाइलाइज्ड' 'रियलिस्टिक' और 'मिश्रित' शैलियों में समान रूप से प्रभावी सिद्ध हुआ है। स्वयं नाटककार के अनुसार "शुतुरमुर्ग में जो शिल्प मैंने चुना है उसका उद्देश्य अकारण ही वर्तमान और परम्परागत नाट्य-रूढ़ियों को तोड़ना नहीं था और न ही उनका अन्धानुसरण था। 'शुतुरमुर्ग' के कथ्य को मैं केवल उसी शिल्प में कह सकता था जिसमें मैंने कहा है। क्योंकि इस नाटक के कथ्य से ही शिल्प का जन्म हुआ है।"[1]

चरित्र-परिकल्पना की दृष्टि से इस नाटक का प्रत्येक पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधि है। राजा (सूत्रधार), रानी, रक्षामंत्री, महामंत्री, विरोधीलाल (सुबोधीलाल), मामूलीराम, दासी और मरता हुआ आदमी—इन नौ पात्रों से इस नाटक को लेखक ने बुना है। इनके नामों से ही स्पष्ट है कि नाटककार इन सबके केवल एक-एक रूप को ही प्रदर्शित करना चाहता है परन्तु व्यंग्य और नाटकीयता का चरम क्षण वहां आता है जहाँ उनका यह स्पष्ट दिखाई देने वाला रूप वास्तव में मुखौटा सिद्ध हो जाता है और उनके चरित्र की एकायामिता में से ही एक दूसरा आयाम भी झलक उठता है। नाटककार ने 'शुतुरमुर्ग' के इस प्रतीक को राजनीति के प्रत्येक महानायक पर अत्यन्त सहजता और सूझ-बूझ से आरोपित कर दिया है। नाटक का प्रत्येक पात्र अपनी-

१. शुतुरमुर्ग, पृ० ७-८

अपनी भूमिका में जीवन की विशिष्ट विसंगति को इस सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है कि यह संपूर्ण नाटक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन के दिवालिएपन की चिन्त्य स्थिति को व्यंग्य के समर्थ और तीक्ष्ण माध्यम से समग्रता के साथ रेखांकित कर देता है। डॉ० शेरजंग गर्ग के शब्दों में, "व्यंग्य मुखौटों का अध्ययन करता है, उन्हें उतारने की सामर्थ्य होती है तो उतार भी देता है, वरना चीख-चीख कर या संकेतों द्वारा मौन रहकर भी उनके होने का अहसास अवश्य कराता है। इस दृष्टि से *शुतुरमुर्ग* के मुखौटाहीन पात्रों के मुखौटों को समझकर उनके व्यंग्य-अंकन में कम कौशल अपेक्षित नहीं था।"[1] विडम्बना यह है कि उनके वास्तविक चेहरे मुखौटे हैं और नाटक के अंत में लगाये गए मुखौटे वास्तविक चेहरे। मानव चेतना में दूर तक बैठी हुई शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति और केवल स्वार्थ के माध्यम से परस्पर जुड़ने वाले व्यक्तियों के मनोविज्ञान का सुन्दर विश्लेषण इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है।

यह सत्य है कि यह एक शब्द-बहुल नाटक है और जो कुछ है वह एक सीधा, सपाट और बहुत जाना हुआ चित्र-भर है। प्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक नेमि चन्द्र जैन के अनुसार 'यद्यपि नाटक का मूल विचार मनोरंजक और प्रभावशाली है परन्तु इसके इर्द-गिर्द बुने गए चरित्र और स्थिति अत्यधिक स्पष्ट और सरलीकृत है। इनमें कोई अन्तर्दृष्टि अथवा गहराई नहीं है—विशेषकर मानवीय स्तर पर।' फिर भी 'सत्यमेव जयते' का बहुविधि प्रयोग, राजा और विरोधीलाल का प्रथम साक्षात्कार तथा उसे सुबोधी बनाने का प्रसंग, शपथ ग्रहण समारोह, भूख पर कलात्मक लेख और मरते हुए आदमी का त्रासद प्रसंग, राजा तथा मामूलीराम का वार्तालाप जैसे दृश्य इस नाटक के मार्मिक एवं उत्तेजक अंश हैं। *शुतुरमुर्ग* का नाट्यालेख वास्तव में एक रेखाचित्र मात्र है जिसमें निर्देशक अपनी रुचि, प्रतिभा और कल्पना के अनुरूप रंग भरता है। यह इसकी सामर्थ्य भी है और सीमा भी। एक ओर यदि यह नाटक श्यामानन्द जालान, सत्यदेव दुबे, मोहन महर्षि और अरुण कुकरेजा जैसे कल्पनाशील निर्देशकों के हाथों सज-संवर कर अपेक्षाकृत अधिक तीव्र नाट्यानुभूति का वाहक बन सकता है तो दूसरी ओर अप्रशिक्षित और कम-कल्पनाशील रंगकर्मियों के हाथों में पड़कर यह नाटक एक अतिसरलीकृत, सपाट और चिर-परिचित सामान्य स्थितियों की एक शब्द-बहुल संरचना भर बन सकता है। फिर भी, समग्रतः हम कह सकते हैं कि *शुतुरमुर्ग* हिन्दी के समकालीन राजनीतिक व्यंग्य-नाटकों में एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृति है।

---

१. व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न : पृष्ठ १३६

बकरी

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का राजनैतिक व्यंग्य नाटक **बकरी** एक बेलाग, तेज और हमलावर रचना है। इसमें दो अंक हैं और प्रत्येक अक मे तीन-तीन दृश्य। नाटक का आरम्भ 'भूमिका दृश्य' से होता है। सस्कृत नाटकों की तरह नट-नटी मगलाचरण से शुरू करते है। गीतों को नौटकी गायन शैली में बाधा गया है और पारसी नाटको की तरह दोहा, चौबोला, दौड़, बहरेतवील का प्रयोग किया है। नट मगलाचरण में राजनीतिक सन्दर्भ देकर उसे समसामयिक बनाता है। प्रत्येक दृश्य के आरम्भ में 'नट गायन' की योजना की गई है। 'नट गायन' वास्तव मे दृश्य-दृश्य के बीच की कड़ी है। वह घटनाओं पर 'कमेंट' भी करता है और आगे की घटनाओ की पूर्व-सूचना देने का कार्य भी करता है।

इस प्रकार रूप की दृष्टि से नाटककार ने सम्भ्रान्तवर्ग के लिए लिखे और प्रस्तुत किए जा रहे विशुद्ध साहित्यिक-रूपवादी एव बौद्धिक नाटकों से हटकर सस्कृत, पारसी और लोक नाटको की भारतीय जन-मानस मे समाई रग शैलियों के अद्‌भुत समन्वय से अपने नाटक का रूप रचा है। बकरी सामान्य जन का नाटक है, जो जन-सामान्य की जुबान मे लिखा गया है। इसलिए केवल 'बकरी' के प्रतीक को छोड़कर (जो स्वयं काफी स्पष्ट--मुखर है) इस नाटक में सर्वत्र अभिधात्मकता के ही दर्शन होते है। बौद्धिक ऐय्याशी, प्रतीको की जटिलता, शिल्पगत चमत्कार और भाषा की कारीगरी से नाटककार सप्रयास बचा है।

हबीब तनवीर के कुछेक नाटको मे लेखक-प्रस्तुतकर्ता की दृष्टि लोक-तत्व पर रही है और 'इन्दर सभा' तो पूर्णतः राजनीतिक नाटक ही था, परन्तु उनका ध्येय लोक-नाटक को शहरी-सम्भ्रान्तवर्ग के लिए पेश करना था, और इनका प्रभाव भी उद्देश्य के अनुकूल ही पड़ा। शहरी दर्शक ने उसे एक नई--अजीब-सी मजेदार चीज के रूप मे ही ग्रहण किया। यही कारण है कि दो-एक नाटको के बाद आम शहरी दर्शक की रुचि उनमे कम होती गई। इस दृष्टि से--**बकरी** आम आदमी की पीड़ा को, आम आदमी की भाषा में, आम आदमी के सामने प्रस्तुत करने वाला हिन्दी का एक महत्वपूर्ण नाटक है। यह ऐसा नाटक है जो बडे प्रेक्षागृह, भारी भरकम दृश्य-सज्जा, जटिल प्रकाश--व्यवस्था, श्रमसाध्य ध्वनि-प्रभावो, निर्देशन की बारीकियों, अभिनय की सूक्ष्मताओं और दभी-बौद्धिक दर्शक वर्ग का मुहताज नही है। यह नाटक 'जनचेतना को लोक-भाषा और लोकरूपो के माध्यम से सामाजिक अन्याय के साथ जोड़ने का एक नया व्याकरण प्रस्तुत करता है। यह शहर-कस्बों-गावों, विकसित-अविकसित मंच गली, नुक्कड़, चौराहो, चौपालो, स्कूलों, कालेजो में सीमित साधनो द्वारा भी प्रभावी ढग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

'व्यवस्था के समकालीन राजनीति के छद्‌म और उसके जनविरोधी एवं जनतंत्र विरोधी चरित्र पर प्रहार करता हुआ यह नाटक जनता, विशेषकर

ग्रामीण जनता पर लादी गई धर्मांधता और उसमें होने वाले शोषण, उत्पीड़न का चित्रण करते हुए ऐसे गुस्से का रेखांकित करता है, जिसे यदि सजग यथार्थ से जोड़कर देखा जाए तो जनवादी चेतना के प्रसार में सहायक हो सकता है।"[1]

टुच्ची राजनीति आडम्बरपूर्ण थोथे धर्म में गठजोड़ करके आम आदमी के शोषण की ऐसी मजबूत, क्रूर और अभेद्य व्यवस्था करती है कि जनता स्वयं को बकरी बनाकर खुद-ब-खुद अपनी बलि देने को आतुर हो उठती है—यह नाटक इसी विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण करता है।

धर्म, शोषण, और नेतागिरी का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन पात्र जब व्यवस्था के रखवाले सिपाही को भी अपने शोषण के षड्यंत्र में शामिल करके एक ग्रामीण स्त्री विपती की सामान्य-सी बकरी को गांधी जी की विशिष्ट बकरी बनाकर अपने लिए तमाम सिद्धियां जुटाने वाली 'काम धेनु' और जनता को हरे भरे चरागाह के रूप में बदल डालते हैं। उन्हीं की मेहरबानियों का नतीजा है कि आज—

गोली बोले धांय धांय
जनता बोले कांय-कांय
नेता बोले भांय-भांय
हर गली में सांय-सांय

शिल्पगत कसाव और चुस्त-दुरुस्त नाटक लिखने का आग्रह नाटककार का नहीं है। सरचना का यह लचीलापन निर्देशक की कल्पनाशीलता और प्रतिभा के लिए पर्याप्त अवकाश प्रदान करता है। प्रस्तुति के स्थान और समय के अनुकूल इसमें *सामायिक तथा स्थानीय सदर्भों एव प्रसगों का समावेश* इसे और भी रोचक तथा समकालीन बना सकता है। कुल मिलाकर 'यह नाटक कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक ऐसा अभिनय प्रयोग है, जो एक स्तर पर रगमच की सर्वव्याप्ति की सम्भावनाएं उजागर करता है तो दूसरे स्तर पर खास तौर में हिन्दी के व्यंग्य प्रधान नाटकों को एक नया आयाम देता है, एक स्तर पर रगमच को कला की कसौटी पर भी खरा उतारते हुए सामायिक यथार्थ से, राजनीति से जुड़ने की तमीज सिखाता है, तो दूसरे स्तर पर उन तमाम तकनीकी *जटिलताओं को फोड़ने की क्षमता प्रदर्शित करता है, जो जन-साधारण को आभिजात्य वर्ग से, गाव को शहर से दूर रखने में सहायक होते रहे हैं।*"[2] निःसन्देह सभी प्रकार के शोषण और अत्याचार के खिलाफ जन-सामान्य को चेताने तथा नाटक-रगमच को एक प्रभावशाली हथियार की तरह इस्तेमाल करने की दृष्टि से बकरी जैसे नाट्य-प्रयोगों की एक निश्चित, तथा महत्वपूर्ण भूमिका है।

---

[1] *बकरी निर्देशक की बात (रविता मागाल)*

[2] दिनमान : २८ जुलाई, १९७४ पृ० ४३

रस गन्धर्व और बुलबुल सराय

हिन्दी के युवा नाटककारों मे मणि मधुकर का एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। मेरे सामने इस समय उनका एकमात्र प्रकाशित नाटक है—**रस गंधर्व बुलबुल सराय** की साइक्लोस्टाइल्ड प्रति है और नाटक **पोलमपुर का या छत्रभंग** के प्रदर्शन की लगभग तीन वर्ष पुरानी एक धुंधली-सी स्मृति । इन सब के आधार पर कुछेक तथ्य हैं जो मणि मधुकर की नाट्य कला के विषय में शायद निर्विवाद रूप से रेखांकित किए जा सकते हैं। उनमें से पहली और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कथ्य की दृष्टि से मणि मधुकर एक राजनैतिक-सामाजिक नाटककार है जो आम-आदमी के पक्ष से सम्पूर्ण व्यवस्था पर तीखा कटाक्ष करते है। उनका एक निजी और मौलिक मुहावरा है जो यथार्थ और फैंटेसी के अद्भुत मिश्रण मे उद्भूत होने के कारण काफी हद तक जटिल और दुरूह प्रतीत होता है।

वस्तु सरचना की दृष्टि से नाटककार अपने नाटकों का आरम्भ एब्सर्ड नाटकों की पद्धति के ऊल-जलूल से लगने वाले किन्तु व्यंजनापूर्ण सवादो से करता है और पात्रों की नारकीय मन स्थिति तथा असह्य परिवेश को प्रतिष्ठित करने के बाद उनमें किसी न किसी लोक-कथा को पिरोकर वह कहानी के बिखरे सूत्रों को जोडने का प्रयास करता है। इन नाटकों के कथानकों में यथार्थ और कल्पना का अद्भुत सयोग हुआ है—लेखक के शब्दों में, "किस्से मे से हकीकत निकलती है और हकीकत में से किस्से की कारीगरी।" **रस गंधर्व** मे धारा नगरी के राजाभोज, उनकी राजकुमारी और पुतली की कहानी तथा **बुलबुल सराय** में बुलबुल की प्रेम कथा, राजा प्रचड सेन तथा मायासुर की कथाएँ इसी प्रकार की है। वस्तु-सयोजन में पुतली-कठपुतली का कलात्मक इस्तेमाल भी मणि की अपनी विशेषता है। इनका कथानक छोटे-छोटे प्रसगों और बिखरी-बिखरी सी घटनाओ के योग से बनता है जिन्हें परस्पर जोड़ने और सगति देने का काम नाटककार दर्शक पर छोड देता है। इसलिए मणि मधुकर के नाटकों मे दर्शक की एक निश्चित और सक्रिय भूमिका रहती है। नाटककार अपने दर्शक की कल्पनाशीलता को जाग्रत और उत्तेजित करके रचनात्मकता के एक सृजन-बिन्दु तक ला कर मुक्त छोड़ देता है और इस तरह इन नाटकों के कथानक में जानबूझकर छोडे गए रिक्त स्थानों को प्रबुद्ध दर्शक स्वयं भरता चलता है। 'मध्यान्तर' के ठीक बाद नाटक, नाट्य-समीक्षक और दर्शक के विषय में अपनी व्यक्तिगत धारणाओ का व्यंग्यात्मक स्वर में बखान इस नाटककार की वैयक्तिक नाट्य-रूढ़ि-सी प्रतीत होती है। अतिलौकिक पात्रों या प्रसगों का प्रवेश भी हमें उक्त तीनो नाटकों में समान रूप से देखने को मिलता है। **रस गंधर्व** मे पुतली का जीवनदान तथा कैदियों का शापमुक्त हो

गंधर्व बन जाना, **बुलबुल सराय** का मायासुर और उसका माया संसार तथा **नाटक पोलमपुर का** में तीन भूत और मौत नामक पात्र की उपस्थिति इसका प्रमाण है। अतीत-कथा के बहाने से समकालीन जीवन और उसकी समस्याओं के बुनियादी कारणों की खोज और मानव-भविष्य की चिन्ता ही नाटककार का प्रमुख सरोकार है। लेखक के शब्दों में "…तुम्हें जानना होगा, राजकुमारी, कि आम आदमी के दुखों का मूल क्या है, वह ऐसी बदतर हालत में क्यों पहुँच गया है? यह भी देखना होगा कि उसकी असामर्थ्य के किस छोर से अग्नि की आकांक्षा उत्पन्न होती है।"

मणि मधुकर अपने पात्रों को कोई निश्चित नाम-रूप नहीं देते। **रस गंधर्व** में अ, ब, स, द, ह तथा एक लड़की है **बुलबुल सराय** में क, ख, आ, ई तथा नट और नटी, **दुलारीबाई** में अभिनेता एक, दो, तीन और चार। इन्हीं पात्रों से नाटककार समय-समय पर विभिन्न चरित्रों का काम लेता है और इस प्रकार वह अपने नाटकों को एक प्रकार की 'लीला' का रूप दे देता है। **रस गंधर्व** का 'ह' कथा की अपेक्षाओं से लेखक, अफसर और सन्तरी की भूमिकाएँ निभाता है तो लड़की क्रमशः राजकुमारी, पुतली, नटी और अप्सरा के रूप में आती है। नट-नटी और गायकों का भी इन नाटकों में एक निश्चित स्थान है। **बुलबुल सराय** में तो स्पष्टतः नट-नटी हैं ही; **रस गंधर्व** में भी 'मध्यांतर' के बाद लेखक और युवती की भूमिका वास्तव में नट-नटी की है। इनसे लेखक देश-काल-परिवेश का परिचय देने, कथा को आगे बढ़ाने और उसके बिखरे सूत्रों को जोड़ने, अतिगम्भीर और सूत्रात्मक संवादों की व्याख्या करने तथा नृत्यगीत और काव्यात्मकता के समावेश करने का काम लेता है।

संवाद-लेखन में लेखक प्रायः बोलचाल की भाषा का प्रयोग करता और ऊल-जलूल से लगने वाले तुकबन्दीपूर्ण हास्यास्पद संवादों के माध्यम से वह गहन-गम्भीर अर्थ और तीखे व्यंग्य की सृष्टि करता है। जैसे गंदगी और सफाई के संदर्भ में बंदूकधारी संतरी से 'द' का यह कथन, "चाहो तो बंदूक से झाडू का काम ले सकते हो।" **रस गंधर्व** के आरम्भिक अंश में अ, ब, स, द की बाजारू-गंवारू यानी नंगी भाषा तथा बेहूदी-गंदी क्रियाएँ-मुद्राएँ और उसके ठीक बाद 'लेखक' के संवाद में छायावादी, सुसंस्कृत एवं कृत्रिम काव्यात्मक भाषा का प्रयोग नाटककार की प्रखर रंग-दृष्टि का प्रत्यक्ष प्रमाण है। गीतों में लोक-भाषा के शब्दों की भरमार मणि की नाट्य-भाषा के एक और आयाम की ओर संकेत करती है।

दोहरे-तिहरे दृश्य-बंध का प्रयोग मणि-मधुकर के नाटकों की एक अन्य विशेषता है। इस दृष्टि से उनका दृष्टिकोण काफी लचीला है। यथार्थवादी होते हुए भी उनके दृश्य-बंध लोक-धर्मी और प्रतीकात्मक मंच-विधान के बहुत नजदीक

पडते है। शिल्प की दृष्टि से नाटककार ने राजस्थानी लोक-नाट्य ख्याल की *शक्ति का रचनात्मक उपयोग करते हुए उसे विकसित तथा सश्लिष्ट रगमच* के साथ जोड कर अपने मौलिक रंग-विधान की सृष्टि की है। मन.स्थिति और परिस्थिति के अनुसार लगातार बदलती प्रकाश-व्यवस्था के साथ नाटककार जिन वैविध्यपूर्ण और त्वरित पार्श्वध्वनियो का प्रयोग करता है वह टेपाकित ध्वनियां ही हो सकती है। उदाहरण के लिए **रस गधर्व** मे क्रमश युद्ध के नगाडों की ध्वनि, युद्ध का कोलाहल; बन्दूक चलने की आवाज, भगदड और चीख-पुकार, लाउडस्पीकर पर घोषणा, रेडियो पर खबरे, आक्रामक सगीत, कौओं की कॉव-कॉव और तीखा सगीत, अन्य पक्षियो के क्रूर स्वर, फरमान की गूज, धमाका, उदास धुन, बादला की गडगड़ाहट इत्यादि का प्रयोग दृष्टव्य है। सगीत के लय-विधान मे भी रोचक वैविध्य देखने को मिलता है, जैसे—आह्वान के स्वर, हनुमान चालीसा की लय, फौजी परेड, काम करते मजदूरों की 'होश्याऽऽ'—लय मजमा, भाषण, खबरें, कीर्तन, भजन, शपथ-ग्रहण-समारोह की लय, बडबडाहट और सवाद या सवाद-लय की पुनरुक्ति के साथ-साथ पुतली-कठपुतली तथा अभिनन्दन का भी प्रभावपूर्ण प्रयोग किया गया है। मुद्राओं, गतियों और सयोजनो के सकेत भी नाटककार ने दिए है किन्तु इनका अतिमस्वरूप तो मूलतः निर्देशक और अभिनेताओं की कल्पनाशीलता और इच्छा पर ही अधिक निर्भर करता है। कहावतो के अतिरिक्त गाँधी जी, ईसा, गौतम बुद्ध, मनुस्मृति, महाभारत, चरक और सुश्रुत से अनेक नीति–वाक्यों को भी नाटककार ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए सवादों के बीच कुशलता से पिरोया है।

प्रतीकात्मकता का व्यापक और बहुविध इस्तेमाल मणि मधुकर के नाटको की एक खास बात है। **रस गंधव** के पात्र अ ब स द आम आदमी का प्रतिनिधित्व करते है और जेल आम आदमी की बन्दी आकाक्षाओं की प्रतीक है तो वहा फैला कूड़ा-कर्कट कोरे सपनों और थोथे आदर्शों के *यथार्थ* का द्योतक है। राजकुमारी और अप्सरा राजसत्ता की प्रतीक है। अफसर नौकरशाही का प्रतिनिधि है। इसी प्रकार **बुलबुल सराय** में भी क, ख, आ, ई मूलत सामान्य व्यक्ति के ही प्रतीक है, सराय-ससार है और प्रलयकाल—आपात्स्थिति। 'बुलबुल' प्रेम करुणा और मानव-मूल्यो की प्रतीक है जिसकी हत्या कर दी गई है। राजा प्रचड सेन—'रस गधर्व' के राजा भोज की तरह ही—साम्राज्यवादी निरकुशता का प्रतीक है।

मणि-मधुकर के नाटकों का ससार जीवन से थके, हारे, ऊबे और टूटे-फूटे ऐसे पात्रों *का ससार है जो जीवन की यह नरक-यातना भोगने के लिए अभिशप्त* है। धीरे-धीरे नाटककार इस नरक का निर्माण करने वाली व्यवस्था को बेनकाब करता है और *व्यग्य* के माध्यम से उस पर प्रहार करने का साहस दिखाता है। व्यवस्था का चूकि कोई एक निश्चित चेहरा नही है, वह मौके के मुताबिक मुखौटे बदलती है—इसलिए नाटककार का व्यग्य-प्रहार भी चहुँतरफा है। कहीं वह

पुरस्कारों की राजनीति का मजाक उड़ाता है तो कहीं नाट्य-दर्शक के अगम्भीर रवैये पर छींटाकशी करता है। राजसत्ता के प्रतीक राजकुमारी के वरण करने वाले योद्धा की अपेक्षित विशेषताओं की ये बानगी देखिए--

"देश-विदेश के राजपुत्रों को सूचित किया जाना है कि मैं धारा नगरी के यशस्वी राजा भोज की सुयोग्य कन्या, आज स्वयंवर के लिए प्रस्तुत हूँ। जो पराक्रमी पुरुष सात समुन्दर पार से खाद्य-सामग्री अर्थात् गेहूँ, चीन से च्यवनप्राश, पाकिस्तान से फूट के बीज, तमिलनाडु से राष्ट्रभाषा की बानगी, तेलंगाना से तिलचट्टों का मर्तबान और राजस्थान से मुख्यमंत्री की नींद चुराकर ला सकेगा, मैं उसी को वरमाला पहनाऊँगी। आगामी कई-कई शताब्दियों तक वही मेरे सौन्दर्य-पान का अधिकार होगा।"

सत्ता के भ्रष्ट चरित्र पर व्यंग्य करने के साथ-साथ वह तथाकथित न्याय व्यवस्था, समाजवाद, राष्ट्रसंघ, शपथ-ग्रहण, नाट्य-समीक्षा, मताधिकार, आयाराम-गयाराम का दलबदलू दोगलापना; हिन्दू-मुसलमानों के, जाट-राजपूतों के, ग्राहक-दुकानदारों के और बोहरों-शोहरों के दंगे, परस्पर सहयोग, सहनशीलता, चरित्र, शुद्धता, धर्म, माओ की लाल किताब, सरकारी अतःकरण, बाल मुनीश्वर इत्यादि सभी पर समान रूप से हमला करता है। **रस गधर्व** की प्रस्तुति समीक्षा करते हुए एक समीक्षक ने लिखा था— 'नाटक में युवानाटककार मणि मधुकर ने व्यवस्था का शायद ही कोई ऐसा पुर्जा हो जिस पर व्यग्य न किया हो, मनोरंजक भाषा में फबती न कसी हो। लेकिन क्या नाटक चुहलभरी फब्तियों का संपुंजन मात्र है? इधर के सभी नाटकों में जो व्यवस्था विरोध में लिखे गये है, यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लेखक सब कुछ समेट लेना चाहता है, उस बच्चे की तरह जो सब कुछ उठा कर चलता है, हर कदम पर एक चीज गिराता है और अन्त में खुद बाकी बची चीजें लिए दिए गिर पड़ता है।'[1] 'सभी नाटकों' की बात तो मैं यहां नहीं करना चाहता, हां जहां तक **रस गधर्व** और **बुलबुल सराय** का प्रश्न है लेखक का उद्देश्य और मतव्य काफी हद तक स्पष्ट और निभ्रन्ति है। किन्तु उसे देखने, समझने और स्वीकार करने के लिए पाठक-दर्शक और समीक्षक के पास भी वैसी ही निभ्रान्ति और पूर्वाग्रहहीन दृष्टि का होना अत्यन्त आवश्यक है। मणि मधुकर न तो दक्षिण पंथी हैं और न वाम पंथी। उन्होंने किसी पार्टी सिद्धात विचार-धारा को अंधे होकर स्वीकार नहीं किया है। उनका विरोध यथास्थिति अन्याय, शोषण और अत्याचार से है—चाहे वह किसी भी रूप में और किसी के द्वारा भी हो रहा हो। वह मानव-मूल्यों और मानवता के प्रति प्रतिबद्ध है। नाटककार को मनुष्य की संघर्ष-शक्ति और उसके भविष्य के प्रति अटूट आस्था है:—

---

१. दिनमान : १४ अप्रैल १९७४, पृ ३९

"जागो, जागो लड़ाई शुरू हो चुकी है।
भागो राजा भोज!
उठो गनू तेली! तथा जोधा सूरज देखता है वाले गीत में किसी प्रकार का संशय या भ्रम नहीं है। इस दृष्टि से रस गंधर्व के यह अन्तिम अंश देखिये—

सब (एक साथ) हम गंधर्व नहीं हैं। हम मनुष्य हैं और यह मानते हैं कि युद्ध में न देवताओं की विजय होती है, न दानवों की—मनुष्य के संकल्पों की विजय होती है।

सब गायक-मंडली के साथ गाते हैं।
जय हो, मानुष महाबली की जय हो।
जागे सृजन-ज्योति
तम का क्षय हो
जग—का पथ सदा हो कल्याणमय।
उभरे—साहस, अग्नि, शक्ति जन की
टूटे—काल बेड़ियां बंधन की
खोले—रस का रहस्य रंगजीवी
जग—का पथ सदा हो कल्याणमय।"

इस मानवतावादी भरत वाक्य के बाद बुलबुल सराय के ये अन्तिम संवाद भी द्रष्टव्य हैं।

ख—यह बुलबुल सराय है।
ब—एक बुलबुल थी। जो इस पहाड़ी पर प्रेम के, करुणा के गीत गाती थी।
नट—कोहरा छंटेगा।
नटी—और वह बुलबुल फिर आएगी।
श्रा—क्योंकि उड़ान भरने के लिए—
ई—उसे पूरा आकाश सौंप देंगे।
नट—दूर होगा धुंधलका।
श्रा—और हम अपने सम्बंधों की, सम्बोधनों की—
ई—नई व्याख्या करेंगे।"

मेरे विचार से ये नाटक आइने की तरह हैं जिनमें हम अपना असली चेहरा तलाश कर सकते हैं और अपने भीतर की भूली हुई संघर्ष-शक्ति तथा सृजन-क्षमता को फिर से पहचान सकते है। इस नरक को स्वर्ग में बदलने का यही एक मात्र रास्ता है। और यही वह बिन्दु है जहां से ये नाटक व्यंग्य-प्रहार तथा केन्द्रीय या मूल समस्या की 'फोकस हीनता' और सभी कुछ समेटने के लालच में आ गए बिखराव के बावजूद महज मनोरंजन अथवा कलात्मक अय्याशी से अलग हटकर एक जीवन्त सार्थक और उत्तेजक नाट्यानुभव के प्रामाणिक दस्तावेज बन जाते हैं।

एक सत्य हरिश्चन्द्र

डा० लक्ष्मीनारायण लाल एक रंगचेता, समर्पित नाटककार है उनका महत्वाकांक्षी नाटक एक सत्य हरिश्चन्द्र एक संगीत नाटक है जो मानव-मूल्य और जीवित सत्य की तलाश मे पौराणिक कथा को आधुनिक संदर्भ-संकेतों के साथ प्रस्तुत करता है। यह नाटक धर्म, राजनीति और अर्थ-शक्ति के सामने सदियों से यातना भोगते आम-आदमी की त्रासदी और जीवन के सत्य से उसके साक्षात्कार का नाटक है। पुराने जमींदार नेता देवधर बाबू के आदि काल से आजमाए हुए कायमयाब हथकंडे और शोषण, जातपात, धर्म तथा हिंसा की राजनीति पर आधारित उनकी कूटनीतिक चालें शूद्र लौका के सहज जीवन-सत्य के समक्ष कैसे पराजित होती है और शिकारी अपने जाल का शिकार स्वयं ही कैसे बन जाता है यह रोमांचक कथ्य प्रभावपूर्ण दृश्यत्व के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। पौराणिक पात्रों का अभिनय करते समकालीन पात्र अपने भीतर की सच्चाई का सामना करते-करते चुपचाप दर्शक-पाठक को भी दर्पण दिखा जाते है। सूत्रधार के रूप मे रंगा का सुन्दर उपयोग नाटककार ने किया है परन्तु नाट्य-शिल्प के अपूर्व-सार्थक प्रयोग के बावजूद डा० लाल का मूल सरोकार अपनी सामाजिक-राजनैतिक चेतना और चिन्तन की अभिव्यक्ति के साथ-साथ आम आदमी के भविष्य और जीवन-मूल्यों के प्रति प्रतिष्ठा-भाव से है। यही कारण नाटक मे अनेक विचारोत्तेजक सूत्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जैसे —"मेरे लिए सत्य वही है, जो सहज ही जीवन में जिया जा सके। जो जिया न जा सके वह झूठ है। वह धोखा है।···सुनो, जब तक खरीदना धर्म है बिकना धर्म बना रहेगा। यदि एक के प्रति धर्म करने के लिए दूसरे के प्रति अधर्म करना पड़े, तो जिसे हम धर्म समझते हैं वह अधर्म है। ··हम सब हरिश्चन्द्र है तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में। वहा राजा इन्द्र एक था, यहां राजा इन्द्र असंख्य हैं—पुलिस, अफसर, नेता, पूंजीपति, दलाल, गुण्डा · यही है तुम्हारी राजनीति। वह अंधकार।" और राजा इन्द्र का यह दावा है कि, "जब तक हममे परीक्षा लेने की शक्ति है और जब तक तुम सबमें परीक्षा देते रहने का धैर्य है, हम रहेंगे। सदा रहेंगे। रूप बदलते रहेंगे। जीतन और लौका बनकर आयेंगे।" परन्तु डा० लाल का लौका सत्य की परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर भी स्वर्ग जाने से इंकार करता है और चुनौती पूर्ण स्वर में परीक्षक से अपने सत्य की परीक्षा देने को कहता है। अंत में नाटककार एक ऐसे राम-राज्य की कल्पना या कामना करता है जिसमे, "अब कोई नहीं होगा इन्द्र, कोई नहीं होगा विश्वामित्र, सब होंगे हरिश्चन्द्र।' नाटक मे नाटक के शिल्प वाले इस नाटक में लौका-लोक-शक्ति का प्रतीक है तो देवधर सत्ता-शक्ति का। जीतन गुरु में मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी का अनिश्चय और भटकाव अभिव्यक्ति पाता है। रोहित के चरित्र और हरिश्चन्द्र द्वारा स्वर्ग के अस्वीकार को छोड़ दें तो

कह सकते हैं कि पौराणिक कथा को बिना तोड़े-मरोड़े नाटक-कार ने उसकी समकालीन व्याख्या प्रस्तुत करने मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। शिल्प की दृष्टि मे यह पूर्णत. मौलिक और अपनी धरती से उपजा अभिनव रंग-प्रयोग है जिसमें नौटकी, रामलीला, पारसी और यथार्थवादी शैलियों का सम्मिश्रण किया गया है। परन्तु एक सत्य हरिश्चन्द्र डा० लाल की अत्यन्त प्रौड रचना होने के बावजूद दोषों से मुक्त नही है। नाटक का मूल और आधारभूत कथ्य समकालीन सामाजिक-राजनैतिक विडम्बना मे सम्बद्ध है परन्तु नाटक मे पौराणिक हरिश्चन्द्र की समान्तर सदर्भ कथा अधिक महत्त्व पा गई है। जीवन और जगत सबंधी गंभीर दार्शनिक सवाद पात्रो के जीवन-विकास मे सहज उद्भूत नही होते। अतः बार-बार आरोपित से प्रतीत होने लगते है। खड़ी बोली के साथ ब्रज-अवधी के भाषा-प्रयोग संगत और महत्त्वपूर्ण है परन्तु उनका समर्थ रचनात्मक उपयोग नहीं किया जा सका है। विविध रंग-शैलियों के जोड भी अलग-अलग दिखाई देते है। इसके अतिरिक्त इस नाटक की एक बहुत बड़ी सीमा यह भी है कि इसे आद्यन्त जिस काव्य के सूत्र मे पिरोया गया है उस विधा पर रचनाकार का पूरा अधिकार नही है और गीतों के अश यति-भग अथवा छदभग के कारण पाठक-दर्शक की सहृदयता को आघात पहुँचाते हैं।

यक्ष-प्रश्न और उत्तर-युद्ध

अपने समय के प्रश्नों से जूझते, उत्तरदायित्वपूर्ण एव समाजचेता रचनाकार डा० लाल की गम्भीर सोच का जीवन्त परिचय हमे उनके दो लघु-नाटकों यक्ष-प्रश्न और उत्तर-युद्ध मे भी मिलता है।

ये दोनो नाटक अलग-अलग भी है और एक भी। कथा-क्रम की दृष्टि से पहले, उत्तर-युद्ध फिर यक्ष-प्रश्न। उत्तर-युद्ध का आरम्भ उस पौराणिक कथा-बिन्दु से होता जिसमें वनवासी पाडव द्रौपदी को स्वयवर से जीतकर अपनी झोपड़ी पर लौटते हैं और मां कुती भीतर से अनजाने ही उन्हे लाई वस्तु परस्पर बराबर बांट लेने को कह देती है। 'उद्घाटन' मे विदूषक के माध्यम से प्रस्तुत यह घटना या दुर्घटना नाट्यारम्भ से पहले ही घटित हो चुकी है और इसके बाद सम्पूर्ण नाटक पौराणिक पात्रो और परिवेश के बावजूद नाटक-कार की कल्पना कर आधारित समकालीन राजनीति का नाटक है। द्रौपदी के विभाजन को लेकर पाचों पाँडव हतप्रभ और विचार-मग्न है। विदूषक शरारत और चुहल-भरे अदाज में एक-एक को द्रौपदी के पास यह जानने को भेजता है कि आखिर उसके विचार क्या हैं और वह स्वय क्या चाहती है? अपने-अपने ढग से वह सब अपने प्रश्नो का एक ही उत्तर लेकर लौटते है और वह उत्तर है 'युद्ध'। अधर्मी और बर्बर से संधि का क्या अर्थ है? शक्तिहीन और शक्तिशाली के बीच मैत्री कैसे सभव है? धर्म और अधर्म मे कैसा सामजस्य? अन्याय, अत्या-

चार और अपमान को चुपचाप सहन करने में कौन-सी वीरता है ? और इन सवालों का द्रोपदी के पास एक ही जवाब है, 'युद्ध ही पहला और एकमात्र अंतिम धर्मबद्ध कार्य है।' माँ की दृष्टि मे द्रोपदी 'निष्ठा' है जो पांचों को जोड़ती है परन्तु आत्म-विश्वासहीन पांडवों के लिए 'सत्ता' बन गई है जिसे हथियाने के लिए वह परस्पर फूट और ईर्ष्या की आरी से कटकर बँटते चले जाते हैं। द्रोपदी को दु शासन खींचे लिए जा रहा है और पांडव एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हुए गम्भीर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद में व्यस्त हैं। यह स्थिति किसी अतीत की नही आज की है, ये पात्र महाभारत के नहीं स्वातंत्र्योत्तर भारत के है। द्रोपदी की चीख आज भी इस समय भी सुनाई दे रही है और हम सब पांडव बने अपनी कायरता को दर्शन और सिद्धान्त की ओट में छिपाए परिस्थितियों को कोसने में व्यस्त है। यहाँ तक पहुँचकर द्रोपदी का प्रतीकत्व बहुत व्यापक और विराट हो जाता है।

यक्ष-प्रश्न भी लगभग इसी प्रकार की भावभूमि और शिल्प का नाटक है। पात्र भी वही हैं। भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी प्यास की तीव्रता और शक्ति की मदांधता में यक्ष-प्रश्नों को उपेक्षित कर जल पीते हैं, जो विष बनकर उनकी मृत्यु का कारण बनता है, क्योंकि यक्ष समय है और जो समय के प्रश्नों का उत्तर नही देता उसके लिए समय काल हो जाता है। युधिष्ठिर यक्ष प्रश्नों के सगत उत्तर देकर न केवल अपनी प्यास बुझाते हैं अपितु मृत भाइयों को भी पुन. जीवित करवा लेते हैं। उत्तर-युद्ध की तरह यहाँ भी समस्या यही है कि "सब चाहते है, उत्तर कोई और दे। कोई और आकर उत्तरदायी बने।" सबको अपनी और केवल अपनी प्यास की चिन्ता है। वह 'मैं' से 'हम' 'नही' बनना चाहते और अलग-अलग मरते चले जाते हैं। नाटक के प्रश्नोत्तरों मे प्रासंगिकता और मौलिकता है परन्तु वे बहुत अधिक उलझी हुई रहस्यात्मक सी भाषा के कारण गम्भीर और गहरे होने का आभास देकर बिना कोई तीव्र प्रभाव डाले ऊपर से निकल जाते हैं। पात्रों की चारित्रिक रेखाएँ स्पष्ट नही है और सभी पात्र एक सी भाषा और सवाद-लय का प्रयोग करते हैं।

इन नाटकों की सबसे बडी शक्ति है इनका आडम्बरहीन खुला रंगमंच, इनकी सहज गति, आन्तरिक ऊर्जा और समकालीन प्रासंगिकता। रंगमंचीय काव्य के स्तर पर जीवन की सार्थकता की तलाश के ये दोनों नाटक अपने कलेवर के कारण डा० लाल के अन्य बड़े नाटकों की अपेक्षा अधिक सघन और अन्विति की दृष्टि से अधिक प्रभावपूर्ण है। प्रभावपूर्ण और जीवन्त नाट्य-भाषा की तलाश केवल डा० लाल ही नहीं समसायिक हिन्दी नाटककारों के लिए एक बहुत बडी चुनौती है। और निस्सदेह इसे समृद्ध करने के लिए हिन्दी बोलियों का इस्तेमाल कई स्तरों पर और कई दृष्टियों से नये आयाम उद्घाटित कर सकता है परन्तु इसका अर्थ इस प्रकार के भाषा प्रयोग कतई नही हो सकता :

"दुहाई । गोहार लागों गोहार । समझाओ इन्हें । पर कौन समझाए । कौन लगे इनके मुँह ? कौन कहे आपान कपार तोड़वाए । अभीसे जब इनकी यह हालत है । अरे सुनिए तो । क्षमा-क्षमा ।" लघु कलेवर के बावजूद इन नाटकों मे अभी दोहराव और फैलाव शेष है। अच्छा होता यदि नाटककार इन्हें और छोटा कर के अधिक पैना एव सघन बना पाता ।

कथा एक कंस की

यदि आपने पिछले दिनों पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आपात्काल की अन्तर्कथाए पढ़ी-सुनी हैं तो दया प्रकाश सिन्हा के नये नाटक **कथा एक कस की** को आप निस्सदेह उसी स्थिति पर लिखा गया एक अत्यन्त सामयिक, चुनौतीपूर्ण, साहसिक और उत्तेजक नाटक ही कहेंगे और यह तथ्य आपके लिए आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय होगा कि यह नाटक वास्तव मे पहली बार नटरंग के जनवरी-दिसम्बर १९७१ के अक मे प्रकाशित हुआ था और पुस्तकाकार रूप मे दो वर्ष बाद जन-सामान्य के सामने आया है । यहां नाटककार कस और कृष्ण की पौराणिक कथा को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्यायित करते हुए उसे इस रूप मे प्रस्तुत करता है कि द्वापर युग की वह कथा देश और काल की सीमाओं को तोडकर मानव-जीवन के कुछ शाश्वत प्रश्नों और उसके जटिल मनोविज्ञान के विडम्बनापूर्ण रूपों से नाटकीय साक्षात्कार का सबल माध्यम बन जाती है । 'कस' यहां किसी व्यक्ति-विशेष का बोधक न होकर किसी भी निरंकुश, अत्याचारी और अन्यायी शासक का प्रतीक है तो 'कृष्ण' इससे उद्धारकर्त्ता का प्रतीक । परन्तु इस नाटक की मूल शक्ति 'कस' और 'कृष्ण' (जो एक भी बार मच पर नही आते) के बाह्य सघर्ष मे न होकर स्वय कस के भीतर की सद् और असद् वृत्तियों के द्वन्द्व और एक कलाप्रिय, भावुक, सुन्दर एव स्त्रीयोचित करुण-कोमल स्वभाव के सामान्य व्यक्ति कस के क्रमश: महाराजाधिराज कस और फिर भगवान श्री कस बनने की उलझी हुई और लम्बी प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक उद्‌घाटन मे निहित है ।

अपने ही दिवा स्वप्नों मे डूबा भयाक्रान्त, शिथिल, बलात और अपनी महत्वाकाक्षा की उपलब्धि के शिखर पर चढ़ा अकेला-नितात अकेला और पराजित कस अपने जीवन में पीछे मुडकर देखता है और सोचने लगता है कि "कहा से प्रारम्भ होती है यह कथा ? एक साधारण मनुष्य की असाधारण महात्वाकांक्षा की कथा । एक साधारण मनुष्य के भगवान बनने की कथा । एक धड़कते हृदय के तपते लहू के ठडे होकर धीरे-धीरे पत्थर की तरह जमने की कथा । तिल-तिल कर, क्षण-क्षण मरने की कथा । जीवित ही मृत्यु-वरण की कथा ।" 'और इस तरह नाटककार छोटे-छोटे फ्लैश-बैक दृश्यों के द्वारा कंस के जीवन-विकास और मोड़ों के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का उद्‌घाटन करता हुआ उन

कारणों और परिस्थितियों को रेखांकित करता है, जिनमें कोई भी व्यक्ति 'कंस' बनने को मजबूर है। अबोध बालपन में पिता से मिले अपमान, लांछन, तिरस्कार और उपहास की प्रतिक्रिया में कंस केवल निर्ममता, हिंसा, हत्या, रक्तपात और क्रूरता को ही पुरुषत्व मानकर अपने पिता तक को घुटने टेकने और गिड़गिड़ाकर क्षमा-याचना के लिए विवश कर देता है। वह प्रतिशोध और महत्त्वाकांक्षा की ऐसी विकराल यात्रा पर निकल पड़ता है जिसमें उसे व्यापक हत्याकांड और अत्याचारों के साथ-साथ बाल-सखी प्रेमिका स्वाति की बलि देने और पत्नी अस्ति की अपने हाथों हत्या करने में भी संकोच नहीं होता। उसका दुर्दमनीय उद्दीप्त अहं स्वीकार करता है कि, '...जो मेरा गर्व सहन नहीं कर सकता, चाहे वह पत्नी हो, मित्र हो, बहन या पिता हो। उसे नष्ट होना ही है।' हत्याओं के इस लम्बे सिलसिले के अंतिम छोर पर पहुंच कर उसे परन्तु लगता है जैसे प्रत्येक हत्या आत्महत्या है और प्रत्येक अत्याचार आत्मयंत्रणा। दूसरों के लिए बनाए गये नरक में वह स्वयं जलने लगता है। कंस के जीवन की त्रासदी और विडम्बना यह है कि वह अपने शत्रु को बाहर तलाशता फिर रहा है जबकि वास्तव में उसके असली शत्रु—भय, आशंका, प्रतिशोध, घृणा और अविश्वास स्वयं उसके भीतर विद्यमान हैं। भीतर की समस्या का बाहर से तलाशा गया हल कभी कारगर नहीं होता। और यह अमर 'खेल' यूं ही चलता रहता है, कंस के ही शब्दों में, 'कंस का अत्याचार करना—और जनता का अत्याचारों से छुटकारा पाने का सपना देखना—हम दोनों ही खेल के नियमों से बंधे हैं।' कंस के अतिरिक्त स्वाति, अस्ति, प्रद्योत और प्रलम्ब के चरित्र भी मनोवैज्ञानिक, जटिलतापूर्ण और नाटकीय सम्भावनाओं से युक्त हैं।

छोटे-छोटे पूर्व-दीप्ति के प्रसंगों-दृश्यों पर आधारित यह नाटक काफी सुनियोजित और सुगठित है। कंस द्वारा पिता से अपने अपमान के प्रतिशोध का दृश्य और उग्रसेन का गूंगापन जहां बहुत उत्तेजक और तनावपूर्ण है वहीं कंस के बालपन और देवकी के प्रसंग करुणा से भीगे हैं। लोक शैली में प्रस्तुत 'नृसिंहावतार' का नाटक कंस के सामने दर्पण रखता है तो अस्ति और स्वाति के कामनापूर्ण परन्तु करुण प्रसंग भी अपने में पर्याप्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है। नाटककार रंगमंच के माध्यम से भलीभांति परिचित है। यही कारण है कि पात्रों की मुद्राओं और गतियों के वैविध्यपूर्ण नियोजन से लेकर अभिनटन मूक-नृत्य और फ्रीजिंग का सुचिन्तित प्रयोग इसमें हुआ है। नाटक की गति वृत्ताकार है। अतः आरम्भ और अंत की स्थितियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

स्वाति के राक्षसी पूतना बनने की व्याख्या, युवा शक्ति और उसके विद्रोह की पहचान तथा पात्रों—विशेषतः कंस के चरित्र की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के विश्लेषणात्मक चित्रण में लेखक के आधुनिक दृष्टिकोण के संकेत मिलते हैं तो

ईश्वर के देश निकाले (मृत्यु) के प्रसंग में नीत्शे तथा कला और सगीतादि पर प्रतिबंध लगाने में औरंगजेब की याद ताजा हो जाती है।

पात्रों और उनकी मन.स्थितियों-परिस्थितियों के अनुसार भाषा और संवादों का स्वरूप निर्धारित हुआ है। प्रौढ कस के संवाद अपेक्षाकृत लम्बे हैं और उनकी भाषा पारसी नाटकों के पुनरुक्ति-प्रधान, भावातिरेक में फूले हुए सवादों के समान प्रतीत होती है। स्वाति और कंस तथा कस और अस्ति के भावनापूर्ण काव्यात्मक सम्वादों मे साहित्यिकता का अतिरिक्त मोह भी अखरता नहीं है। मेरे विचार में उच्चारण सौख्य, संवेगों के अनुरूप स्वरों के उतार-चढ़ाव, बोलचाल की लय तथा मन स्थिति के सम्पूर्ण नाटकीय सम्प्रेषण की दृष्टि से जगल मे अकेले छोड दिए गए बालक कस का सवाद सम्भवत इस नाटक का सर्वश्रेष्ठ सवाद है। शेष अधिकाश सवाद भी चुस्त-दुरुस्त है और उनकी भाषा भी सामान्यत. नाटकीय ही है। हा, दो-एक स्थानों पर सवादो का गठन अवश्य गडबडा गया है, जैसे-कस से देवकी का यह कथन, '.... कि अपनी दुलारी बहन की नदी में गिरी गुड़िया लाने को नदी मे कूद पड़ने वाले भाई का स्नेह केवल स्वाग था।' यहा अभिनेता यदि 'बहन की' के बाद सायास विराम न दे तो सास का अनायास विराम 'बहन की नदी में' के बाद जा पड़ेगा और अर्थ का अनर्थ हो जायेगा।

नाटक मे कस के मत्री प्रलम्ब, सेनापति प्रद्योत तथा मागध सेनापति बाहुक का परिचय बहुत बाद मे दिया गया है तथा 'व्यवस्था' और 'स्थिति' की सूचना देने के प्रसग मे भागते हुए उनके 'प्रवेश' और 'प्रस्थान' उनकी गरिमा तथा मर्यादा के अनुकूल प्रतीत नहीं होते। यू इस प्रसग मे 'विद्रोहियों ने तथा विद्रोहियों का' सम्बन्धी चित्रण नाटकीय है परतु प्रस्तुतीकरण मे जरा-सी कमजोरी इसे मच पर हास्यास्पद बना सकती है। इसी प्रकार मच पर उपस्थित प्रौढ कस का पाच वर्ष के बच्चे की तरह पिता उग्रसेन से चिपटना भी सगत और अपेक्षित प्रभाव नहीं डालेगा। कस के बाल्यकाल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के विभिन्न दृश्य इसमें हैं जिनमें आयु तथा वस्त्रों के अतर को बनाए रखना लगभग असभव है। इसलिए प्रस्तुतीकरण की दृष्टि मे या तो कंस की भूमिका दो-तीन व्यक्तियों को करनी पड़ेगी या फिर इसे रेडियो, टी०वी० या फिल्म के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकेगा। अधिक से अधिक युवावस्था और प्रौढावस्था का अन्तर तो शायद श्रेष्ठ अभिनय से फिर भी निभाया जा सके परन्तु बचपन से प्रौढावस्था तक की यात्रा तो बहुत कठिन और दुरूह है। इसके अतिरिक्त वर्तमान और अतीत का अतर भी स्पष्टतः प्रकट नहीं किया गया है, निर्देशक और विशेषत. अभिनेताओं की सुविधा की दृष्टि से यह आवश्यक था। सभवतः यही वे प्रमुख कारण है कि अत्यधिक उत्तेजक कथ्य के बावजूद पिछले लगभग चार-पाँच वर्षों में इसे कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया गया।

युद्धमन

त्रिशंकु, अलगोजा तथा **शाह मे मात** जैसे चर्चित एवं प्रयोगधर्मी नाटकों के रचनाकार बृजमोहन शाह का नया नाटक **युद्धमन** केवल युद्ध ही नहीं युद्ध के मनोवैज्ञानिक-राजनीतिक कारणों और उसके रोंगटे खड़े कर देने वाले अमानवीय एवं भयावह परिणामों का तथ्यात्मक और प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। नाटककार का दृष्टिकोण व्यापक तथा वैज्ञानिक है और उसका सरोकार व्यक्ति, समाज और देश की सीमाएं लांघ कर समस्त मानव-जाति तथा उसके भविष्य से है। हिन्दी नाटक और रंगमच के लिए यह एक अभूतपूर्व और अनूठा अनुभव है। स्वयं नाटककार के शब्दों में, **युद्धमन** काल्पनिक कथा-साहित्य या युद्ध-विशेष में रत दो मुल्कों की क्रिया-प्रतिक्रिया का मात्र अवलोकन नहीं है वरन् युद्ध-काल मे मानव कार्य-व्यापार नित अनुभवों का वह प्रलेख है जो पिछले कई वर्षों मे मेरे मन-मस्तिष्क को साल रहा था। इसमें युद्ध के समय मानव-मन की प्रक्रिया व कृत्य के वे वास्तविक शब्द, घटनाएं, आकड़े और कारनामे हैं जिन्हें मैंने कतिपय स्रोतों से लिया है। अत. नाटक का हर दृश्य युद्ध काल में विश्व के किसी न किसी मुल्क की घटना की तस्वीर पेश करता है।" नाटक मे कुल ग्यारह दृश्य हैं जिनमें नाटककार ने अदालत, शरणार्थी कैंप, घर (एक दो तीन) बाजार, घूसेबाजी का अखाड़ा, बुद्धिजीवियों की सभा तथा युद्ध के तीन अलग-अलग दृश्यों के माध्यम से विविध स्तरों पर युद्ध का फायदा उठाते स्वार्थी राजनीतिज्ञों और भ्रष्टाचारी व्यापारियों, अपने संकीर्ण हितों की रक्षा और झूठी निजी सुरक्षा से आश्वस्त आम आदमियों, बौद्धिक अय्याशी मे लिप्त बुद्धिजीवियों और युद्ध की यातना को देह पर झेलते सैनिकों के साथ-साथ उसके त्रासद परिणामों को तन मन के धरातल पर बर्दाश्त करते उनके बन्धुबांधवों और मां-बाप के जीवन के विविध रंग-रूपों को पूरी जीवन्तता और नाटकीयता से प्रस्तुत किया है।

बी० एम० शाह को रंगमच का सीधा और व्यवहारिक अनुभव है। तकनीकी दृष्टि से डाक्यूमेंटरी शिल्प से आरम्भ होने वाले इस नाटक में उन्होंने रेडियो, रंगमच और सिनेमा का रचनात्मक मिश्र-प्रयोग किया है। लेफ्टिनेंट द्वारा किये गए हत्याकांड के मुकदमे के दृश्य की समाप्ति के बाद सम्पूर्ण नाटक फ्लैश बैक पद्धति से खुलता है और दसवें दृश्य मे प्रेक्षकों को भी नाटक का सीधा भागीदार बना लेता है। भाषा में फौज और युद्ध-क्षेत्र के तकनीकी शब्दों, गालियों और अंग्रेजी शब्दों तथा वाक्यों के बहुविध प्रयोग से चरित्रों तथा वातावरण को प्रामाणिकता दी गई है। यूं, सामान्यतः उर्दू शब्द-बहुल बोलचाल की ही भाषा का प्रयोग किया है और 'आप आर्डर दीजिए' सर।; "खाना खाओ' सनी, खाना।' 'आइ विल गिव यू बम्ब्।' इत्यादि तकिया-कलाम पात्रों की चारित्रिक

विशेषताओं से जुड़कर हास्य की सृष्टि में भी सहायक होते हैं। संवादों में चुस्ती और बोलचाल की सहज-जीवन्तता है।

सोमे की घड़ी, मोम का अकेलापन और मृत्यु, बूढ़े-बुढ़िया की त्रासदी पानी के लिए प्यासे सैनिकों की झड़प और लेफ्टिनेंट का पत्नी-प्रेम जैसे प्रसंग बहुत मार्मिक और सुन्दर हैं परन्तु युद्ध-भूमि के दृश्यों में एकरसता और पुनरावृत्ति है तथा कहीं-कहीं अत्यधिक आकड़ेबाजी भी नीरस लगती है। नाटक को सम्पादित किया जाना आवश्यक है।

एक और द्रोणाचार्य

अपने जीवन के चालीस वर्ष पूरे कर चुकने के बाद सन् १९७२ से अचानक नाट्य-लेखन आरम्भ कर सबको चमत्कृत कर देने वाले नाटककार डॉ० शकर शेष ने **बिन बाती के दीप, फंदी, खजुराहो का शिल्पी, मायावी सरोवर, घ्राक्टोपस, घ्रनिकेत** ('घरौंदा' नामक फिल्म जिस पर आधारित है) तथा **एक ग्रोर द्रोणाचार्य** जैसे नाटकों से पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली है।

नटरंग जनवरी-दिसम्बर १९७६ में प्रकाशित शंकर शेष का नाटक **एक ग्रोर द्रोणाचार्य** महाभारत की एक समानान्तर कथा के माध्यम से आज के तथाकथित बुद्धिजीवी के समझौतावादी चरित्र की विडम्बना को नाटकीय ढग से प्रस्तुत करता है। नाटककार ने अरविन्द, लीला, प्रेसीडेंट, अनुराधा और चदू के समान्तर द्रोणाचार्य, कृपी, दुर्योधन, द्रौपदी और अश्वत्थामा के प्रासगिक और सटीक दृश्य प्रस्तुत करके समकालीन नाटको मे इतिहास-प्रयोग का एक नया पहलू प्रकट किया है।

अरविन्द एक निजी महाविद्यालय का आदर्शवादी प्रोफेसर है, जो परिस्थितियों के दबावों और जीवन के छोटे-छोटे सुखो के लिए सत्ता (अध्यक्ष) से समझौता करके प्रिंसिपल बन जाता है। उसकी पत्नी लीला और मित्र यदु उसे कभी भी न्याय और सत्य के पक्ष में अडिग नही रहने देते—मामला चाहे नकल का हो या बलात्कार का। ऐसे मौकों पर वे सदा उसे विमलेन्दु की याद दिलाते हैं जिसे गुंडों ने बीच चौराहे पर मार डाला था। न्यायप्रिय, सवेदनशील, ईमानदार और सच्चा व्यक्ति होने के बावजूद—अरविन्द कोई साहसी निर्णय नही ले पाता और विरोध की तकलीफदेह भाषा की जगह समझौते की सुविधाप्रद भाषा बोलने लगता है और सत्ता के कभी न टूटने वाले चक्रव्यूह मे फंसकर मात्र 'बड़े-बड़े निरर्थक शब्द थूकने वाला नपुसक बुद्धिवादी' बनकर रह जाता है। राज्याश्रय लेकर या अर्द्ध-सत्य अथवा असत्य का सहारा लेकर विजयी होने वाला कोई भी द्रोणाचार्य या युधिष्ठिर यदि आने वाली पीढ़ी से सत्यनिष्ठ और ईमानदार होने की अपेक्षा करता है, तो यह उसकी मूर्खता है। अंत तक पहुँचते-पहुँचते नाटककार अरविन्द और द्रोणाचार्य के साम्य के आधार पर

पुराण और वर्तमान की एकता को मुखर होकर प्रतिष्ठित करता है, "तू द्रोणाचार्य है। व्यवस्था और सत्ता के कोड़ों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य—इतिहास की धार में लकड़ी के ठंठ की तरह बहता हुआ, वर्तमान के कगार से लगा हुआ सड़ा-गला द्रोणाचार्य। व्यवस्था के लाइटहाउस से अपनी दिशा माँगने वाले टूटे जहाज-सा द्रोणाचार्य।" नाटक 'पूर्वार्द्ध' और 'उत्तरार्द्ध' नामक दो भागों में विभक्त है। यथार्थवादी दृश्य-बंध की जकड़ से स्वयं को मुक्त करके नाटककार ने कल्पनापूर्ण प्रकाश-संयोजन, संगीत तथा न्यूनतम मंच-उपकरणों के उपयोग से अतीत और वर्तमान के लगभग साथ-साथ लगातार चलते दृश्यों को प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है। पुराण-प्रसंगों के फ्लैशबैक, दिवास्वप्न-दृश्य और जेल की कोठरी तथा कोर्ट के दृश्यों से शिल्पगत वैविध्य पैदा किया गया है। परन्तु अरविन्द और द्रोणाचार्य के साम्य को बहुत दूर तक घसीटने तथा अत्यधिक मुखरता और पुनरावृत्ति के कारण नाटक का समग्र प्रभाव कम हो गया है। पौराणिक और समकालीन दृश्यों में यदि भाषा का अंतर भी रखा जा सकता तो सम्भवतः रचना अधिक रोचक और कलात्मक हो सकती थी। विमलेन्दु की शारीराकृति का अत्यधिक प्रयोग भी एक स्थूल नाटकीय युक्ति के अतिरिक्त और कोई गम्भीर प्रयोजन पूरा नहीं करता। फिर भी, कुल मिलाकर डा० शेष को रंगमंच के माध्यम का अच्छा ज्ञान है और इस नाटक में उन्होंने उसका प्रभावपूर्ण इस्तेमाल भी किया है।

अग्निलीक

दृश्य-काव्य के रूप में प्रचारित स्वर्गीय भारतभूषण अग्रवाल की रचना **अग्निलीक** में रचनाकार ने राम और सीता के पौराणिक पात्रों को आधुनिक दृष्टि से विशुद्ध मानवीय स्तर पर विश्लेषित करके उनके चारित्रिक अन्तर्विरोधों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। तार्किकता और व्यंग्य भारत जी के प्रमुख गुण रहे हैं। इन्हीं के माध्यम से उन्होंने यहां सत्ता एवं महत्त्वाकांक्षा में ग्रस्त राजा राम बनाम पत्नी सीता के सहज-स्वाभाविक प्रेम-सम्बन्ध तथा शासक और शासित के पारस्परिक रिश्तों के आन्तरिक संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है।

अनेक प्रसंग और कथन ऐसे हैं जो स्पष्टतः समकालीन स्थितियों पर सीधा कमेंट करते हैं। सीता के प्रश्न और आरोप बहुत संगत, तीखे और उत्तेजक हैं।

सीता को राम से सबसे बड़ी शिकायत यही है कि वह सदैव हर पल राजा ही बने रहे, कभी प्रेमी नहीं बन पाए। जिसे सीता ने तन-मन से सम्पूर्णतः चाहा वह उन्हें पहचानने तक में असमर्थ रहा। यहाँ आकर सीता और राम अपनी पौराणिक विशिष्टता छोड़कर सामान्य स्त्री-पुरुष की भूमिका में उतर आते हैं और रचनाकार उनके सम्बन्धों की बारीक छानबीन करने लगता है।

मुक्त छंद की सहज लय और बोलचाल की भाषा, ऊर्जा तथा गति के कारण आद्यन्त जीवन्तता बनी रहती है। सीता का विस्फोटक लम्बा एकालाप तथा राम का पश्चातापपूर्ण आत्ममथन रचना के प्रभावशाली अंश हैं। अत में राम को इस सत्य की उपलब्धि होती है कि—

............जीवन की सच्ची अनुभूति ही
इस अंधे युग की अकेली अग्नि-लीक है—
प्यार, सत्य मुक्ति उसी लीक पर मिलते हैं।

परन्तु नाटकीय स्थितियों के अभाव और पारस्परिक जीवन्त संघर्ष की न्यूनता के कारण, मेरा विश्वास है कि प्रस्तुति के समय मंच पर यह अग्नि-लीक बहुत बुझी हुई सी दिखाई देगी। इसके विषय मे स्वय रचनाकार का निष्कर्ष मुझे बहुत तटस्थ और सही प्रतीत होता है कि अपने वर्तमान रूप में, 'यह नाटक से अधिक खण्डकाव्य हो गया है।' सम्भव है यदि काल उन्हे थोड़ा समय और देता तो वह इसे एक समर्थ काव्य-नाटक के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हो जाते।

हानूश

'हानूश' हिन्दी के सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कथाकार भीष्म साहनी का पहला नाटक है। यह १५वीं शताब्दी के एक ऐसे कुफलसाज (ताला बनाने वाले) की व्यथा-कथा है जिसने विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अपनी जवानी के सत्रह-अट्ठारह वर्ष चेकोस्लोवाकिया की पहली मीनार घड़ी बनाने मे खपा दिए। अन्तत जब वह कलाकार अपने सृजन में सफल हुआ और वह घड़ी प्राग की नगरपालिका की मीनार पर लगाई गई तो बादशाह ने प्रसन्न होकर एक ओर देश का गौरव बढ़ाने वाले उस गरीब कलाकार को पुरस्कृत और सम्मानित किया तो दूसरी ओर उसकी दोनों आखें निकाल लेने का हुक्म भी दे दिया जिससे वह और घड़िया न बना सके। चेक-इतिहास की यह छोटी-सी (?) घटना ही नाटक हानूश की आधार-कथा है। १९६० के आसपास भीष्म साहनी जब चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग गए तो उनके मित्र कथाकार निर्मल वर्मा ने उन्हें हानूश की वह मीनार घड़ी दिखाई जिसके विषय में वहा तरह-तरह की कहानियां प्रचलित हैं। कहानी उनके मन में लगातार उमडती रही, और उन्ही के शब्दों में "My curiosity led me to collect more material about the clock. I wrote to the Czech authorities who were good enough to send me a write-up. I also came across a book on tower-clock in the Municipal library of Bombay. The material contained details about the peculiarities of

Hanush's clock, but little about Hanush himself. One source mentioned him as a poor black-smith, while the other, as professor of Mathematics".

परन्तु विवेच्य रचना न तो कोई ऐतिहासिक नाटक ही है और न ही इसका मकसद हानूश की घड़ी या घड़ियों के आविष्कार की कहानी कहना है। इस दृष्टि से दो-एक तथ्यों को छोड़ इसमें सभी कुछ काल्पनिक है। 'नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास मात्र है।' जो अनायास 'ताजमहल' के स्वप्न-द्रष्टा कलाकारों की त्रासद नियति की याद ताजा कर देता है।

सरचनात्मक दृष्टि से हानूश तीन अकों का एक यथार्थवादी नाटक है जिसके पहले अंक में एक, दूसरे में तीन और तीसरे में दो दृश्य हैं। समय के अन्तराल के हिसाब से प्रस्तुत नाटक के पहले अंक के आरम्भ में हानूश को घडी बनाते हुए तेरह वर्ष वीत चुके हैं। दूसरे अंक के पहले दृश्य में और पाच वर्षों के बीतने का उल्लेख है। इस प्रकार घडी वनाने में कुल अट्ठारह वर्ष लगे। तीसरे अंक के पहले दृश्य मे हानूश को अंधा हुए दो वर्ष गुजरने का सकेत दिया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर यह नाटक लगभग बीस वर्षों की कहानी कहता है। नाटक का आरम्भ हानूश के साधारण से कमरे में होता है जिसमें हानूश की पत्नी कात्या और हानूश के बड़े भाई पादरी के पारस्परिक सवादों के माध्यम से एक कलाकार (हानूश) के विवश जीवन पर पड़ने वाले आर्थिक दबावों तथा उसके पारिवारिक तनावों का मार्मिक चित्रण किया गया है। हानूश और बूढे लोहार के वार्तालाप से हानूश की लगन, गम्भीरता, तल्लीनता, आत्म-सम्मान, विवशता और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद एक सच्चे कलाकार की दुर्दमनीय सिसृच्छा से हमारा साक्षात्कार होता है। पादरी हानूश को घड़ी बनाने के लिए गिरजे द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के बंद किए जाने की सूचना देकर उसे घड़ी के बजाए ताले बनाकर ठीक से अपने परिवार का भरण-पोषण करने का परामर्श देता है। परन्तु बूढ़ा लोहार पूर्णतः हतोत्साहित और आर्थिक दबावों से पराजित हानूश को हर हालत मे अपना काम जारी रखने की सलाह देकर प्रोत्साहित करता है; और कुछ न होने पर लोहारों की जमात से माली इमदाद दिलाने का आश्वासन भी देता है। काम चाहते जेकब को, कात्या की सलाह पर ताले बनवाने के इरादे से, हानूश अपने यहाँ नौकरी दे देता है और अक के अन्त मे कात्या हानूश को पारिवारिक उत्तरदायित्वों से पूर्णतः मुक्त करते हुए कहती है कि, "अब तुम आजाद हो, अपने वज़ीफे का इतजाम करो और घड़ी बनाओ। मैं तुमसे कभी कुछ नही कहूगी···।"

दूसरे अंक के पहले दृश्य में नगरपालिका के सदस्य मिलकर हानूश की घड़ी को नगरपालिका की मीनार पर लगाने और घड़ी निर्माण को व्यवसाय

बनाकर उसके लाभों को हथियाने की योजना बनाते हैं। चूंकि पिछले पाच सालो से नगरपालिका हानूश को वजीफा देती रही है, इसलिए उसकी घडी पर गिरजे वालो की अपेक्षा उन्ही का अधिकार अधिक है और उसे वे किसी भी तरह छोड़ने को तैयार नहीं हैं। यहां नाटककार ने व्यावसायिक शक्तियों और धर्म के पारस्परिक सघर्ष और दोनों द्वारा समान रूप से आम आदमी का शोषण करने के षड्यंत्र को जीवन्त अभिव्यक्ति दी है। दूसरे दृश्य में जन समुदाय द्वारा हानूश के सम्मान, यान्का (हानूश की बेटी) तथा जेकब के स्नेह-सम्बन्ध की झलक और कामयाबी के कारण पति-पत्नी के सुधरे हुए रिश्ते के साथ-साथ नगरपालिका के समारोह में हानूश के सम्मानित होने की तैयारी का रोचक चित्रण हुआ है। तीसरे दृश्य में, हानूश और उसकी अद्वितीय घडी से प्रसन्न होकर महाराज उसे एक हजार सोने के मोहरे तथा दरबारी का रुतबा अता फरमाते है तथा घडी की देखभाल के लिए हानूश का महीना भी बांध देते हैं। परन्तु और घड़ी-घड़िया बनाने के संदर्भ मे महाराज यह हुक्म भी तत्काल देते है कि, "इस आदमी को और घडिया बनाने की इजाजत नही होगी। इस हुक्म पर अमल करवाने के लिए—(थोड़ा ठिठक कर) हानूश कुफ़लसाज़ को उसकी आंखों के महरूम कर दिया जाए। उसकी दोनो आखें *निकाल दी जायें।" अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिए सत्ता किस प्रकार* आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक शक्तियों के पारस्परिक सघर्ष और विरोध का फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करती हैं; किस तरह वह कला और कलाकार का इस्तेमाल अपने निजी हितो की रक्षा के लिए करती है और उसके सामने बड़े से बड़ा कलाकार कितना विवश और निरीह है, इस सब का प्रस्तुतीकरण तीसरे दृश्य मे अत्यन्त नाटकीयता से हुआ है।

तृतीय अंक के पहले दृश्य मे हानूश की अधता और उसके राजदरबारी होने की विडम्बनापूर्ण स्थिति का करुण चित्रण किया गया है। घडी और अपने जीवन को लेकर उसके अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति कात्या के इस कथन में द्रष्टव्य है, "··घड़ी को लेकर वह कुढता है, मन-ही-मन छटपटाता है, उसे तोड़ने की कोशिश भी करता है। पर उसकी जान घडी में ही है। उसकी आवाज सुनकर ही वह जी रहा है··" उसका मित्र ऐमिल उसे इस त्रासद स्थिति से बचाने के लिए कात्या को राय देता है कि वह अपने परिवार को लेकर पडौसी राज्य तुला मे भाग जाए, जो एक घड़ी के निर्माण के उद्देश्य से हानूश को सम्मानपूर्वक आश्रय देने को तैयार है। अपनी सुविधापूर्ण वर्तमान स्थिति से सतुष्ट कात्या ऐमिल की राय को पूर्णत अस्वीकार कर देती है परन्तु तभी प्रतिशोध लेने के इरादे से जानबूझकर राजा की सवारी से टकराकर हानूश घायल हो जाता है और पति की दयनीय स्थिति से कातर कात्या देश छोडने को सहमत हो जाती है। घडी के रहस्य को जानकर (हानूश का शिष्य) जेकब

तुला के सौदागर के साथ भाग जाता है। ठीक इसी समय घड़ी खराब हो जाती है और उसे तोड़ने के लिए आकुल अंधा हानूश हथौड़ा उठाता तो है मगर उसे चला नहीं पाता और तीव्र अन्तर्द्वन्द्व तथा संघर्ष के बाद अन्त में उसे ठीक कर देता है। परन्तु ठीक तभी बादशाह का एक प्रतिनिधि अधिकारी उसे जेकब को वहाँ से भगाने और स्वय भी बादशाह सलामत के हुक्म की खिलाफ़-वर्जी करने की साजिश से शामिल होने के जुर्म में पकड़ने आ जाता है; और तब हानूश आश्वस्त भाव से स्वयं को समर्पित करते हुए कहता है कि, "महा-राज का हुक्म सिर-आँखों पर। मैं हाजिर हूँ घड़ी बन सकती है, घड़ी बन्द भी हो सकती है। घड़ी बनाने वाला अंधा भी हो सकता है, मर भी सकता है। लेकिन यह बहुत बड़ी बात नहीं है। जेकब चला गया ताकि घड़ी का भेद जिन्दा रह सके, और यही सबसे बड़ी बात है।" इस बिन्दु पर आकर यह नाटक ब्रेख्त के सुप्रसिद्ध नाटक **गैलीलियो** के नायक की याद दिलाने लगता है जहाँ किसी भी सत्यान्वेषी का सत्य और कलाकार की कला स्वय अपने रचनाकार से बडी और महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

स्थापत्य की दृष्टि से यह नाटक यद्यपि काफी चुस्त-दुरुस्त और कसा हुआ है परन्तु मेरे विचार से दूसरे अंक का पहला दृश्य बोझिल और मात्र वार्तालाप पर आधारित होने के कारण शिथिल-नीरस है। पहले अंक में यान्का का एक प्रवेश-प्रस्थान भी दोषपूर्ण है। पृष्ठ ६ पर 'कात्या चुपचाप यान्का को लेकर पिछले दरवाजे से घर के अन्दर चली जाती है।' पृष्ठ २१ पर अचानक यान्का का सम्वाद आ जाता है जब कि वहा तक उसके पुनः प्रवेश का कोई सकेत नही है और न ही उसका कोई सवाद है। अति-सक्षिप्त भूमिकाओ के कारण ही सभवत हुसाक, जान, शेव चेवचेक, जार्ज और टाबर जैसे पात्रों का अलग-अलग व्यक्तित्व भी स्पष्टत प्रतिष्ठित नही हो पाता। दिल्ली की रग-सस्था **अभियान** द्वारा रजिन्दरनाथ के निर्देशन मे प्रस्तुत यह नाटक की प्रथम प्रस्तुति मेरे इस कथन की गवाह है। दृश्यात्मकता के अभाव में यह अंश उबाऊ वाद-विवाद मात्र बनकर रह गया था।

चरित्रांकन के धरातल से हानूश का चरित्र इस नाटक की सबसे बडी उपलब्धि है जिसमे एक कलाकार की सामर्थ्य और सीमा, सघर्ष और पराजय, असहनीय दबाव-तनाव और दुर्दमनीय सृजनेच्छा, उसकी विवशता और अजेयता के एक साथ दर्शन होते है। पति को हृदय से प्यार करती किन्तु परिस्थितियो से अकेले लड़ने मे असमर्थ कटु हो गई कात्या का चरित्र भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक, सच्चा और मानवीय है। हाँ, बूढे लोहार के सम्वाद कहीं-कही अति गहन-गम्भीर, सुसंस्कृत और भारी-भरकम होने से आरोपित प्रतीत होने लगते है। जब कि इसी प्रकार के संवाद पादरी के मुख पर अजीब नही लगते।

मध्ययुगीन परिवेश और विदेशी पात्रों के कारण ही नाटककार ने सम्भवतः

उर्दू बहुल हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है, जो आम बोलचाल के बहुत निकट है परन्तु मेरे विचार से **हानूश** की भाषा एकदम साफ-सुथरी, सरल, सहज और प्रभावमयी होने के बावजूद मूलतः नाटक की अपेक्षा कथा-साहित्य के अधिक निकट है। उसमें यथार्थवादी नाटक के तनाव को वहन करने की शक्ति और बोलचाल का भ्रम बनाए रखने के बावजूद सृजनात्मक एवं बहु-अर्थ छाया संपन्न होने के गुणों का भी अपेक्षाकृत अभाव है। सभी चरित्रों के सम्वादों का ग्राफ लगभग समान है और सम्वादों मे चरित्रों की आन्तरिकता से उत्पन्न होने वाले उस सूक्ष्म लय-विधान के भी यहाँ दर्शन नहीं होते, जो हिन्दी मे मोहन राकेश के नाटकों की सबसे बड़ी उपलब्धि बन गए। परन्तु यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि तीव्रता, क्षिप्रता, चमक, व्यंजना, नाट्य-विडम्बना और गहन-अर्थ-गर्भी मुखर मौन वाली बिम्बात्मक नाट्य-बाधा के अभाव के बावजूद **हानूश** एक सार्थक और गम्भीर नाट्यानुभूति देने में समर्थ एक महत्वपूर्ण नाटक है। इसकी प्रभविष्णुता का मूलाधार भाषा की नाटकीयता की अपेक्षा स्थितियों की नाटकीय-तीव्रता और केन्द्रीय चरित्र की मार्मिक विडम्बना का कलात्मक चित्रण ही अधिक है। निःसंदेह इन दिनों प्रकाशित होने वाले तमाम मौलिक हिन्दी नाटकों मे **हानूश** सर्वाधिक उल्लेखनीय और चर्चित नाटक रहा है।

तीन एकान्त

विशुद्ध नाटक और कहानी के बीच है निर्मल वर्मा की पुस्तक **तीन एकांत**। इसमें कहानीकार निर्मल वर्मा की एकालापपूर्ण तीन कहानियों—**धूप का एक टुकड़ा, डेढ़ इंच ऊपर** और **वीकएंड**—के देवेन्द्र राज द्वारा परिकल्पित प्रस्तुति-आलेख संकलित है। ये कहानियों के नाट्य-रूपांतरण नहीं है। यहाँ कहानी के अपने मूल 'फार्म' मे निहित कथ्य, शब्द और दृश्य को ही मंच पर स्थापित करने का अभिनव प्रयोग किया गया है। निर्मल वर्मा के शब्दों में, "कहानी के मूल स्वभाव को विकृत किए बिना उसे मंच पर इस तरह प्रस्तुत किया जाए, जहाँ वह एक ही समय में नाटक का 'इल्यूजन' दे सके और दूसरी ओर कहानी की आत्यंतिक फार्म और लय को अक्षुण्ण रख सके।" अपने 'स्व' से वार्तालाप करते हुए इन कहानियों के पात्र अपने अतीत को वर्तमान में जीते है और अपनी भोगी हुई लाछना, पश्चाताप और विडम्बनाओं के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार करते है। अकेलेपन का तीखा एहसास और आत्मकेन्द्रित पात्र का लम्बा एकालाप इन तीनो रचनाओं में समान रूप से विद्यमान है। जिन लोगों ने १ मई से ६ मई, १९७५ को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली में देवेन्द्र राज के निर्देशन में इन्हे मंच पर साकार होते देखा है वे इस बात को आसानी से समझ सकते है कि इन कहानियों के रंगमंचीय संसार ने किस प्रकार नाट्य-दर्शकों को प्रभावित करके हिन्दी रंगमंच की समृद्धि का एक नया आयाम प्रस्तुत किया है।

काठ महल

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का प्रभिशप्त यक्ष के नाम से मचित और काठ महल के नाम से प्रकाशित यह काव्य-नाटक अन्धायुग परम्परा की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। मिथक और आधुनिकता के सयोग से निर्मित इस नाटक मे नाटककार के अनुसार, "आम आदमी का मुक्ति के लिए भटकाव और सघर्ष कथा-बिन्दु है जिसके इर्द-गिर्द यह काव्य-नाटक रचा गया है। इस रचना का केन्द्र बिन्दु है वह आक्रामक व्यवस्था जो बार-बार मुखौटे बदलती है, और परिवेश की सतह पर, उसी के द्वारा थोपी गई जड़ता मे हलचल के जन्मते ही अपना सदर्भ बदल देती है। आदमी और व्यवस्था के बीच कशमश का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, और उसमे राजनीतिक सिद्धान्तों की भागीदारी, और दो अलग-अलग स्तरो के निर्वाह मे—यास्तविक के साथ मिथ को जोड़ना—यही था वह कैन्वस जिस पर यह काव्य-नाटक रचा गया।"

पाँच अकों में विभक्त इस नाटक मे रचनाकार ने एक साहित्यिक-मिथक सदर्भ के माध्यम से सामन्तवाद से लेकर प्रजातंत्र तक की इतिहास-यात्रा प्रस्तुत की है जिसमें पूँजीवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद, हेगेल, मार्क्स, नीत्शे, गांधी और फ्रायड इत्यादि सभी को समेटने का प्रयास किया है। प्रत्येक व्यवस्था यक्ष-मुक्ति या आम-आदमी के उद्धार के नाम पर सामान्य-जन को अधा-गूँगा और बहरा बनाकर अपना उल्लू सीधा करती है। एक लम्बे संघर्ष के बाद यक्ष को यह जीवन-सत्य उपलब्ध होता है कि—

> **शायद कठपुतली बने रहना**
> **मेरी नियति का**
> **एक मात्र निर्धारित सत्य है।**

कथ्य के धरातल पर यह एक नाटकीय और विडम्बनापूर्ण स्थिति है और नाटककार ने अपने व्यावहारिक रंगमच ज्ञान का भरपूर इस्तेमाल करते हुए इसे एक रोचक एव प्रयोगधर्मी शिल्प-विधान मे बाँधा है। प्रत्येक अंक के बीच कई एक दृश्य-परिवर्तनों की अलिखित योजना है जिन्हे प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

सम्वाद मुक्त छद में है और भाषा बिम्बात्मक। परिस्थिति और मन.स्थिति के अनुरूप लय-परिवर्तन की योजना की गई है। तीसरे अंक में ज्यादातर यक्ष का आत्म-चिन्तन और अन्तर्द्वन्द्व है जिसे नाटककार ने 'दूसरा', 'वह व्यक्ति' और 'अन्य व्यक्ति' जैसे पात्रों तथा फैंटेसी और स्वप्न दृश्यो जैसे शिल्प प्रयोगों से नाटकीय बनाने की कोशिश की है। इसी अंक के मध्य में यक्ष का १६८ पक्तियो का लम्बा एकालाप है जिसे १२ 'पॉज' देकर तोड़ा गया है। इस अंश की भाषा अत्यन्त लाक्षणिक, प्रतीकमयी और काव्यात्मक है। शास्त्रीय, यथार्थवादी,

प्रतीकात्मक, लोकधर्मी और शैलीबद्ध नाट्य-रूढ़ियों के मौलिक प्रयोग से नाटककार ने विवेच्य कृति का अनूठा नाट्य-रूप उपलब्ध किया है।

अनेक स्थानों पर चरित्र-सृष्टि, संवाद-योजना, भाषा और उपमानों की दृष्टि से काठ महल भारती के अन्धायुग की याद दिलाता है।

भूमिका से स्पष्ट है कि नामकरण के लिहाज से अभिशप्त यक्ष से लेकर काठ महल तक की यात्रा भी काफी लम्बी और दुविधापूर्ण रही है। व्याख्याकार विवेचक पात्र 'मेघ' के शब्दों में—

धनपति तन्त्र का
खोखली लकड़ी का एक महल है,
जिसमें धनपति का अस्तित्व नहीं,
केवल हैं दीमक।
और जानते हो, यक्ष,
यह दीमक इसी लकड़ी में जन्मे हैं
पलते हैं इसी लकड़ी में
दीमक होते हैं हर काठमहल में।
इसलिए यक्ष
यह काठमहल स्वयं ढह जाएगा।
किन्तु ये दीमक
कहाँ-कहाँ फैलेंगे
यह देखना है शेष।
दीमकों की शक्ति
यदि संगठित हुई
तो संघर्ष लम्बा होगा।

यहाँ एक प्रासंगिक प्रश्न यह उठता है कि व्यवस्था का यह 'काठमहल' यदि स्वपालित दीमकों के कारण स्वयं ही ढहेगा तो इस संघर्ष मे यक्ष या आम-आदमी की भूमिका क्या है ? एक तटस्थ प्रेक्षक होने के अतिरिक्त वह क्या कर सकता है ? और नाटक में एक निर्णायक बिन्दु पर आकर यक्ष तथा मेघ यही करते भी है। क्या यह नपुंसक प्रतीक्षा एक प्रकार का भाग्यवाद ही नही है ? इसमे संघर्ष की गुंजाइश ही कहाँ है ? इसके अतिरिक्त, 'काठमहल' से जन्मे और उसे खाकर जीवित रहने वाले दीमक—आमात्य, विश्वकर्मा, देवराज—भला क्योंकर संगठित नही होंगे ? यक्ष ने भले ही अपने सवालों को गिरवी रख दिया हो परन्तु पाठक-दर्शक अवश्य यह पूछना चाहेगा कि धनपति तथा राजपुरोहित को चुपचाप निकल जाने देने, मुक्ति रूपी प्रिया यक्षिणी के अपहरणकर्ता कुमार को अपनी आँखों के सामने भगा देने तथा दीमको की संगठित शक्ति का अलका में बाँहें फैलाकर स्वागत करने और बाद में भागने वालो को ढूँढ़ने निकलने मे कौन

सा तर्क एव सघर्ष निहित है ? प्रत्येक समर्पण एक अंधता है चाहे वह ईश्वर के प्रति हो, धनपति के प्रति या कुमार, गामवृद्ध अथवा मुक्तिदूत मेघ के प्रनि; हर प्रतिबद्धता एक गुनामी है और मुक्ति-आशा एक खूबसूरत धोखा ! तब विकल्प क्या है ? क्या मनुष्य अपनी इस चिर-अभिशप्त नियति को चुपचाप स्वीकार करके हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे ? यदि नहीं तो सघर्ष कैसे करे ? अकेले लड़ना आत्मघात है और सगठित होने का कोई सही आधार दिखाई नहीं देता । हाँ, नाटक मे जरा-सा आस्था का सकेत दिखाई देता है—विशाल और वामन के माध्यम से । परन्तु एक तो अभी उनके हाथ मे सत्ता आई नही, इसलिए उनकी परिणति का अनुमान कठिन है । दूसरे, जो इतनी आसानी से उपेक्षित और पराजित हो सकते हैं—क्या उनसे कोई उम्मीद रखना उचित होगा ?

मुक्तिदूत यदि मेघ है तो धरती से उसका कोई अटूट-बुनियादी रिश्ता नहीं है । वह अपनी सुविधानुसार आता और जाता रहेगा । धरती के बेटे की मुक्ति सिवाए उसके अपने मजदूर हाथों के और कोई नही कर सकता । मुक्ति स्वय नही मिलेगी । उसके लिए सतत संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष के लिए असली शत्रुओं की पहचान जरूरी है । यह नाटक वास्तव मे इन मुखौटाधारी चालक शत्रुओं को बेनकाब करता है और आम आदमी के दुर्भाग्य तथा उसकी अभिशप्त नियति के वास्तविक कारणों से साक्षात्कार कराने के कारण ही एक सार्थक एव महत्त्वपूर्ण रचना बन जाता है । कथ्य और शिल्प—दोनों धरातलों से **काठमहल** एक उत्तेजक नाटक है और मेरा विश्वास है कि रगमच पर प्रस्तुत होकर यह तीव्र एवं गहन नाट्यानुभूति देने में समर्थ होगा । रंगकर्मियो को इसका स्वागत करना चाहिए ।

अन्य कृतियाँ

इन तमाम मचित और बहुचर्चित नाटको के अतिरिक्त अनेक ऐसी नाट्यकृतियाँ भी इस बीच प्रकाशित-मचित हुई हैं जो कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है किन्तु जिन्हें व्यक्तिगत अथवा प्रकाशकीय विशेषताओं के कारण इस पुस्तक मे सम्मिलित नहीं किया जा सका है । उनमें से स्व० मोहन राकेश के **पैर के तले की जमीन**, विपिन कुमार अग्रवाल के **लोटन**, शान्ति मेहरोत्रा के **ठहरा हुआ पानी** (नटरग अंक पच्चीस मे प्रकाशित), रामेश्वर प्रेम के **चारपाई** तथा **अजातघर** (क्रमश 'नटरंग' अंक छब्बीस एवं 'अभिनय सवाद' : अक बारह में प्रकाशित), सत्यव्रत सिन्हा के **अमृतपुत्र** डॉ० लाल के **व्यक्तिगत**, **सबरंग, मोहभंग** तथा **गंगामाटी**, इन्द्रजीत भाटिया के **जीवन दण्ड**, गिरिराज किशोर के **प्रजा ही रहने दो**, **चेहरे-चेहरे किसके चेहरे** ('छायानट' : जुलाई-दिसम्बर १९७७ के अंक मे प्रकाशित), हमीदुल्ला के **दरिन्दे**, नरेन्द्र कोहली के **शम्बूक की हत्या**, मुद्राराक्षस के **मरजीवा**, **योर्स फेथफुल**, **तेंदुआ**, बलराज पंडित का

पांचवाँ सवार, सुशीलकुमार सिंह के **चार यारों की यार** तथा **नागपाश**, रमेश बक्षी के **तीसरा हाथी** और **वामाचार**, गगाप्रसाद विमल के **आज नहीं कल**, सुदर्शन चौपड़ा के **काला पहाड़**, विष्णु प्रभाकर के **टगर**, गोविन्द चातक के **अपने अपने खूंटे** और **काला मुंह** का नामोल्लेख मैं यहाँ विशेष रूप से करना चाहूँगा। स्पष्टत: समकालीन हिन्दी नाटक की दशा और दिशा किसी भी दृष्टि से निराशाजनक नही है। यह सच है कि इस बीच कोई कालजयी नाट्य-रचना शायद नही आई है परन्तु निश्चय ही किसी ऐसी रचना के आने की सम्भावना अवश्य दिखाई देने लगी है। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से इस क्षेत्र मे कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयोग इधर देखने में आए है, आ रहे हैं। आज का हिन्दी नाटक और नि सन्देह अब व्यक्ति और उसके व्यक्तिगत जीवन के सीमित प्रश्नों की सीमाएँ लाँघ कर जीवन और जगत की व्यापक एव गहन विडम्बनाओं तथा समस्याओं से हमारा साक्षात्कार कराने लगा है और आधुनिक व्यक्ति पर पड़ने वाले परिस्थितिजन्य चहुँतरफा दबावों-तनावों का प्रभावपूर्ण प्रस्तुतीकरण कर हिन्दी नाटक के भविष्य के प्रति आश्वस्त होने का प्रमाण दे रहा है।

अनुवाद

हिन्दी मे विदेशी और अन्य भारतीय भाषाओ से आए नाटको का महत्त्व दोहरा है। एक ओर यदि इनसे हिन्दी नाटक और रगमच को समृद्धि मिली है तो दूसरी ओर प्रादेशिक नाटककारो को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा दिलाने मे भी इन अनुवादों की निर्णायक भूमिका रही है। शेक्सपियर, शॉ, इब्सन, मितर, चेखव गोर्की, ओ नील, बैकेट, ब्रेख्त, टैनेसी विलियम्स, जे० बी० प्रीस्टले, आयनेस्को जैसे विदेशी दिग्गज नाटककारो की अधिकाश चर्चित रचनाओ के साथ-साथ कन्नड़ से **गिरीश कर्नाड** के 'तुगलक' तथा 'हयवदन' और **आद्य रगाचार्य** के 'सुनो जनमेजय', गुजराती से **मधुराय** के 'किसी एक फूल का नाम लो' और 'कुमार की छत पर' तथा **विनायक पुरोहित** का 'स्टील फ्रेम' के हिन्दी अनुवादों ने नये रंग आन्दोलन को गति देने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मराठी के सुप्रसिद्ध नाटककार **विजय तेंदुलकर** के सभी नाटको मे स्त्री-पुरुष सम्बन्धो की विडम्बना और क्रूरता के माध्यम से मानवीय मूल्यों की तलाश की गई है। 'खामोश ! अदालत जारी है', 'घासीराम कोतवाल', 'सखाराम बाइन्डर' की तरह हाल ही मे प्रकाशित उनके दो अन्य नाटक 'गिद्ध' और 'बेबी' (अनुवादक : वसन्त देव) भी इसके अपवाद नहीं है। विवादास्पद नाटक 'गिद्ध' जहाँ अभिजात्य मूल्यो पर सीधा आघात करता है वहाँ 'बेबी' मे विकृत यौन भाव की हिंसा, क्रूरता और बर्बर यातना के बहाने एक स्त्री की निरीहता, करुणा और त्रासदी को प्रस्तुत किया गया है। 'एव इन्द्रजीत', 'बाकी इतिहास', 'पगला घोड़ा', 'बीसवीं शताब्दी', 'सारी रात' जैसे गम्भीर नाटकों के ख्याति प्राप्त बगला

नाटककार **बादल सरकार** के पुराने हास्य नाटक 'राम-श्याम-जदु' तथा 'बल्लभपुर की रूपकथा' (अनुवादिका : डॉ० प्रतिभा अग्रवाल) के साथ-साथ नये नुक्कड़ नाटक 'जुलूस' का प्रकाशन और मंचन बादल बाबू की रचना-धर्मिता का एक नया आयाम प्रस्तुत करते हैं। 'गिनी पिग' के ख्यातिप्राप्त नाटककार **मोहित चटर्जी** का अरेबियन नाइट्स की सुप्रसिद्ध कथा पर आधारित संगीत नाटक 'अलीबाबा' (अनुवादिका : सान्त्वना निगम) हाल ही में आया है जो पुरानी कहानी को आज के संदर्भ और प्रसग में नाटकीयता से पेश करता है। **सत्यजित राय** का फिल्म-आलेख 'नायक' (अनुवादक : योगेन्द्र चौधरी) भी उल्लेखनीय रचना है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के माध्यम से जीवन की मूल्यवत्ता और सार्थकता की नाटकीय तलाश करता है उड़िया नाटककार **जगन्नाथ प्रसाद दास** का नाटक 'सूर्यास्त' (अनुवादक : श्रीमती कान्ति देव)। इसके अतिरिक्त—**खानोलकर** का 'नटसम्राट एव कालामतस्मैनम.' (अनुवादक : केलकर) **मनोरंजन दास** का 'अरण्य फसल' (अनुवादक : शकर लाल पुरोहित) तथा **टालस्टाय** का 'पाप और प्रकाश' (अनुवादक . जैनेन्द्र कुमार) जैसी महत्त्वपूर्ण नाट्य-रचनाए भी हमें उपलब्ध हुई है।

कुल मिलाकर, समकालीन हिन्दी नाटक और रगमच की वर्तमान दशा कुछ लोगों को सम्भव है बहुत उत्साहवर्द्धक प्रतीत न हो परन्तु चूँकि उसकी दिशा ठीक है, इसलिए निराश होने का कोई कारण नही है। अपने नैतिक मूल्यों की तलाश करती हमारी यह साहित्य कला मिश्रित उत्तेजक विधा निश्चय ही अपने गर्भ में उज्ज्वल भविष्य को छिपाए है।

हिन्दी एकांकी : एक ऐतिहासिक परिदृश्य

आज हिन्दी में समस्या-एकांकियों के अतिरिक्त रोमाण्टिक और ऐतिहासिक एकांकी, कवित्वमय फैन्टेसी, मोनोड्रामा, प्रहसन आदि—उसके अनेक रूप मिलते हैं। टेकनीक में नवीनता है और फैशनेबिल चित्रमयता बढ़ रही है। हिन्दी के रंगमंच का निर्माण करने में एकांकी की सेवायें अमूल्य होंगी।

□ डॉ० नगेन्द्र

२

हिन्दी एकांकी : एक ऐतिहासिक परिदृश्य

संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपक के उपभेदो के अन्तर्गत निस्सदेह अंक, भाण, व्यायोग, वीथी इत्यादि ऐसे नाट्य-रूपो का उल्लेख मिलता है जो एक अंकीय हैं और ढूढने पर उनमें से कुछेक के दो एक उदाहरण भी दिये जा सकते है। यह भी सच है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन नाटककारों तथा जयशकर प्रसाद के एक घूंट पर उस परम्परा का प्रत्यक्ष प्रभाव है तो डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास इत्यादि के प्रारम्भिक एकांकियों पर अप्रत्यक्ष। परन्तु आज जिसे हम नया या आधुनिक एकाकी कहते है उसका कोई परम्परागत सबध संस्कृत के उस एक-अकीय नाटक से नहीं है। आरम्भ मे आकार की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटे उन तमाम नाटको को एकाकी मान लिया गया जो प्रत्यक्षत: 'अंको' में विभाजित नही किए गए थे या जिनमे 'अक' के स्थान पर 'दृश्य' शब्द का प्रयोग हुआ था। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि हल्की सी आधुनिकता के आवरण के नीचे उन रचनाओं का पूरा स्थापत्य सस्कृत नाटक का ही है और वहा शास्त्रीय दृष्टि से पांचों सधियाँ और कार्यावस्थाए ज्यों की त्यों विद्यमान है। *परम्परित नाटक से भिन्न एक नयी साहित्य कला-विधा के रूप मे एकाकी* की प्रतिष्ठा वास्तव मे भुवनेश्वर और बाद मे उपेन्द्रनाथ अश्क तथा जगदीशचंद्र माथुर के रचनात्मक योगदान से मिली। इसलिए मेरे विचार से हिन्दी मे एकांकी की शुरूआत किसी एक रचना अथवा व्यक्ति से मानने के बजाए हस के 'एकांकी नाटक-विशेषांक' (मई, १९३८) से मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इसी के प्रकाशन के बाद एकांकी के पक्ष-विपक्ष में गम्भीर चर्चा आरम्भ हुई और रचनाकारो ने इसे एक नवीन सार्थक और महत्त्वपूर्ण कला-माध्यम के रूप में स्वीकार किया।

विदेशों की तरह हमारे यहाँ एकाकी के जन्म का कारण न तो बंदर का

पंजा जैसे किसी 'पटउन्नायक' (कर्टेन रेजर) की अभूतपूर्व सफलता जैसी कोई घटना है और न ही समयाभाव जैसी कोई सकट-स्थिति। अन्य अनेक आधुनिक साहित्य-रूपों की तरह एकांकी का उद्भव भी हमारे यहाँ अंग्रेजी और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हुआ। यूरोप में इसका जन्म रंगमच के गर्भ से एक सहज, स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा हुआ था जब कि हमारे यहाँ यह पाठ्य-क्रम और रेडियो का पेट भरने की दृष्टि से सायास पैदा किया गया और बाद में स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयों के वार्षिकोत्सवों तथा क्लबों, दलों और सभाओं-संघों के विशिष्ट अवसरों के मनोरंजक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों से जुड़ गया।

१९३८-४० तक बम्बई, दिल्ली और लखनऊ के रेडियो-स्टेशनों से उर्दू-हिंदी के एकांकी प्रसारित होने लगे थे। उर्दू में इस्मत, मण्टो, बेदी, कृश्नचंदर और अश्क ने अपने एकांकी रेडियो के लिए ही लिखे थे और हिन्दी में भी रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण मिश्र, विष्णु-प्रभाकर, सत्येन्द्र शरत और जगदीश चन्द्र माथुर के अनेक एकांकी मूलतः रेडियो के लिए ही लिखे गए जो कालांतर में—रंगमंच की प्रतिष्ठा बढ़ने पर—रंग निर्देशों और थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ मंचीय नाटकों के रूप में प्रकाशित हुए। रंगमंच के लिए लिखा गया नाटक तो फिर भी रेडियो पर सफल हो सकता है परन्तु मूलतः रेडियो के लिए लिखे गए नाटक की रंगमंचीय सफलता बहुत कठिन है। इसलिए हमारे यहाँ 'विशुद्ध' के स्थान पर मिश्रित या दोगले किस्म के नाटक और एकांकी ही अधिक लिखे गए जो दोनों माध्यमों में औसत सफल होकर चर्चित होते रहे। १९६० के आसपास व्यापक रंगमंच-आंदोलन के जोर पकड़ने के बाद से ही हिन्दी मे विशुद्ध रंगमंचीय-एकांकी लेखन की दिशा मे नाटककारों का ध्यान गया और तब से इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण प्रयोग हुए है।

ऐतिहासिक दृष्टि से **डा० रामकुमार वर्मा** के 'बादल की मृत्यु' 'पृथ्वीराज की आँखें' 'चम्पक', 'एक्ट्रेस', 'दस मिनिट', 'नहीं का रहस्य', 'रेशमी टाई', 'अठारह जुलाई की शाम', 'एक तोले अफीम की कीमत', और 'चारुमित्रा', 'उत्सर्ग', 'कौमुदी महोत्सव', 'दीपदान' इत्यादि बहुचर्चित एवं महत्त्वपूर्ण एकांकी हैं। पिछले दिनों 'कैलेन्डर का आखिरी पन्ना' नामक एक नया एकांकी-सकलन भी आया है। कथावस्तु सामाजिक हो, पौराणिक हो या ऐतिहासिक—वर्मा जी का दृष्टिकोण भावुक और नैतिक आदर्शवादी रहा है। उदात्त कथाएं, महान चरित्र, अलंकृत शैली, काव्यात्मक संवाद, विस्तृत रंग-संकेत, छायावादी भाषा, संकलन-त्रय और शिथिल कार्य-व्यापार वर्मा जी के एकांकियों की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं हैं।

हिन्दी एकांकी और नाट्य-साहित्य को अतिशय भावुकता तथा मात्र पठनीयता के सीमित दायरे से बाहर निकाल कर समकालीन जीवन की बुनियादी समस्याओं के बौद्धिक, गम्भीर एवं तीखे विश्लेषण को सफल एकांकी-शिल्प में

प्रस्तुत करने की दृष्टि से **भुवनेश्वर** और उनके कार्यों का महत्त्व हिन्दी एकांकी के इतिहास में अन्यतम है। इब्सन, शॉ और फ्रायड से प्रत्यक्षतः प्रभावित होने के बावजूद भुवनेश्वर में मौलिकता और ऊर्जा है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की बारीक छानबीन और रचनात्मक नाट्य-भाषा की दृष्टि से वह अपने समय से बहुत आगे थे। 'श्यामा · एक वैवाहिक विडम्बना', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'शैतान' (जिस पर शा कि मुखर छाया को लेखक ने अपने संग्रह की भूमिका मे स्वयं स्वीकार किया है) 'प्रतिभा का विवाह', 'रोमास . रोमांच', 'लाटरी', 'ऊसर', और 'स्ट्राइक' उनके प्रमुख एव बहुचर्चित एकांकी है। 'कठपुतलियां' उनका प्रतीकात्मक एकाकी है तो 'सिकन्दर', 'अकबर' और 'चंगेज खा' ऐतिहासिक एकांकी हैं। 'तावे के कीडे' आज के एब्सर्ड नाटक के बहुत नजदीक की रचना है जिसमे कोई कथा नहीं है। इसमें नाटककार कुछ पात्रों की बेतुकी असंगत हरकतों, उछल-कूद और हास्य-व्यंग्य के माध्यम से हमारे जीवन की विडम्बना और त्रासदी को बडी खूबी से बेनकाब करता है। स्थितियों की अद्भुत पकड़, मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण, बहुआयामी सर्जनात्मक नाट्य-भाषा, जीवन्त सवाद, तीव्र नाट्य-विडम्बना ने व्यग्य-विद्रूप, आकस्मिकता, रंग-निर्देश और समाधानहीनता भुवनेश्वर की एकांकी-कला की मूलभूत विशेषताए है। इन्हे रगमच के शिल्प और व्याकरण का सम्यक् ज्ञान था और नि सन्देह वह अपने समय के सबसे बड़े तकनीशियन थे।

जीवन और जगत की जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं तथा रूढ़ियों पर निर्भय प्रहार करने की दृष्टि से **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** के 'अफजल वध', 'उजबक', 'चार बेचारे' : 'बेचारा सम्पादक', 'बेचारा अध्यापक', 'बेचारा सुधारक'तथा 'बेचारा प्रचारक' उल्लेखनीय एकांकी है तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से **गणेशप्रसाद द्विवेदी** के 'सुहाग बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'सर्वस्व समर्पण', 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व', 'शर्मा जी' तथा 'कामरेड' का नाम लिया जा सकता है। परन्तु इन्होने अपने एकांकियों में रगमंच और उसकी व्यावहारिक अपेक्षाओं की ओर ध्यान नही दिया।

पं० उदयशंकर भट्ट के एकाकियों मे रेडियो और रगमंच का मिलाजुला रूप देखने को मिलता है। इन्होने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, समस्या-प्रधान, प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक सभी प्रकार के एकाकी लिखे है। 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर-निर्वाचन', 'एक ही कब्र में,' 'सेठ लाभचन्द', 'दस हजार', तथा 'आदिम युग' इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। परन्तु भट्ट जी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं—उनके भावनाट्य अथवा गीतिनाट्य। 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा', 'कालिदास', 'एकला चलो रे' इत्यादि अपनी काव्यात्मकता, गीतमयता, भावाकुलता, आलंकारिकता, प्रतीकात्मकता और भाषा-सौष्ठव के कारण उल्लेखनीय रचनाएं हैं। परन्तु तीव्र नाटकीयता, गहन संघर्ष और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक

विश्लेषण के अभाव में इन्हे श्रेष्ठ नाट्य-कृतियां नहीं कहा जा सकता। हिन्दी में सौ एकाकी लिखने का कीर्तिमान स्थापित करने वाले **सेठ गोविन्द दास** ने भी सभी तरह के एकांकी लिखे हैं और वैविध्यपूर्ण शिल्प-प्रयोग भी किए है। 'भूख हड़ताल', 'यू नो', 'जालीक और भिखारिणी' 'वुद्ध की एक शिष्या', 'चन्द्रापीड और चर्मकार', 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप', 'निर्दोष की रक्षा' तथा 'बूढ़े की जीभ' और 'विटामिन' जैसे बहुसंख्यक एकांकियों के साथ-साथ इन्होंने 'शाप और वर', 'षट् दर्शन', 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला' तथा 'सच्चा-जीवन' जैसे मोनोड्रामा भी लिखे हैं। सेठ गोविन्द दास गाधीवादी विचारक-सुधारक है। ये नाटक या एकाकी उनकी इस विचारधारा के वाहक-माध्यम मात्र वन कर रह गए है। आपके एकाकियो में प्राय अनेक दृश्य है और 'उपक्रम' तथा 'उपसंहार' का भी उपयोग किया गया है परन्तु कैसी विडम्बना है कि आपके नाटकों मे नाटकीयता के ही दर्शन दुर्लभ है। नाट्य-स्थितियों का अभाव, कार्य-व्यापार की न्यूनता, नीरस-लम्बे सवाद, एकायामी सपाट भाषा, चमत्कार-हीनता तथा उपदेशात्मक दृष्टिकोण की अकलात्मकता के कारण सेठ जी किसी भी कालजयी रचना की सृष्टि नही कर सके है। इनके विपरीत कम लिखने के बावजूद **गोविन्द वल्लभ पंत** के कुछेक एकाकी उल्लेखनीय बन पड़े है, जैसे—'एकाग्रता की परीक्षा' 'विषकन्या,' 'खूनी लोटा,' 'अपराध मेरा ही', 'आधी रात का गायक,' 'जहरीला दांत' 'झखमारी' इत्यादि। इसी क्रम मे **भगवती चरण वर्मा** के 'सबसे बडा आदमी', 'मैं और केवल मैं', 'दो कलाकार' तथा 'चौपाल'; **वृन्दावन लाल वर्मा** के 'सुगुन', 'पीले हाथ', 'लो भई पचो लो', 'बांस की फाँस', 'कनेर', 'टटा गुरू', 'जहाँदारशाह' तथा 'कश्मीर का कांटा' और **राम वृक्ष बेनीपुरी** के 'सघमित्रा', 'सिहल-विजय' एवं 'नेत्रदान' इत्यादि का भी नाम लिया जा सकता है।

भावुकतापूर्ण, गांधीवादी एवं आदर्शपरक एकांकी लिखने वालों में **हरिकृष्ण प्रेमी, देवराज दिनेश, सदगुरुशरण अवस्थी, डा० सत्येन्द्र, व्यथित हृदय, राजेश** इत्यादि एकांकीकार उल्लेखनीय हैं। अब तक के इस विवेचन में **उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीश चन्द्र माथुर** के नाम मैंने जानबूझकर नही लिये—हालाकि ऐतिहासिक दृष्टि से अश्क का पहला एकाकी १९३१-३२ में ही प्रकाशित हो चुका था और हंस के एकांकी विशेषाक के लिए लिखा गया 'लक्ष्मी का स्वागत' आज भी स्कूलों-कालेजों के शौकिया कलाकारो के बीच पर्याप्त लोकप्रिय है। जगदीश चन्द्र माथुर का 'मूर्खेश्वर राजा' भी १९२६ में छप चुका था और १९३६ में 'मेरी वांसुरी' के मचन के बाद से वह लगातार एकांकियों का सृजन करने लगे थे। आधुनिक हिन्दी एकाकी को गम्भीर कला-माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने और उसे समकालीन जीवन तथा रंगमंच से जोड़ने की दृष्टि से इन दोनों एकांकीकारों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

उपेन्द्रनाथ अश्क उर्दू से हिन्दी मे आए और रेडियो से रगमंच मे। सामाजिक यथार्थ के सुन्दर चित्र हमे इनके एकांकियो में सर्वत्र देखने को मिलते है। शिल्प की दृष्टि से भी अश्क ने अनेक सफल और सार्थक प्रयोग किए हैं। परन्तु इनका दृष्टिकोण मूलतः रोमांटिक है और अपनी भावुक तरलता मे वह समस्या के मूल तक नहीं जा पाते। अश्क जीवन के आलोचक है, इसलिए इनके एकांकियों मे व्यग्य और तीव्रता तो है परन्तु इसके साथ ही साथ सरलीकृत स्थितियों और पात्रों की एकायामिता के कारण वे कोई गहन-तीव्र अनुभव नहीं दे पाते। परन्तु अश्क के एकांकी परिमाण, गुण और आस्वाद-प्रभाव में इतने वैविध्यपूर्ण हैं कि उन पर कोई सामान्य वक्तव्य देना गलत होगा। समय के साथ उनकी एकाकी-कला में इतना विकास हुआ है कि उसके विवेचन-विश्लेषण के आधार पर ही हिन्दी-एकांकी के विकास और बदलते स्वरूप को रेखांकित किया जा सकता है। उन्ही के शब्दों में, "जहा तक एकाकी के शिल्प और रूपाकार का सम्बन्ध है, वह भी कहानी के शिल्प की तरह बदला है। पहले एकांकी कहानी की तरह ही एक विचार अथवा एक घटना का चित्रण भर करता और उस विचार और उस घटना को सीधी सरल अभिव्यक्ति देने मे शिल्प का कमाल समझा जाता था। मेरे शुरू के एकाकी—वह 'पापी' हो या 'लक्ष्मी का स्वागत', 'जोंक' अथवा 'आपस का समझौता'—इसी शिल्प मे लिखे गये हैं और एक घटना अथवा विचार को सीधे व्यक्त कर देते है। फिर जिन्दगी को मैंने कुछ गहरी नजरों से देखा और जीवन का अतरंग अनुभव प्राप्त किया तो मैंने जाना कि कुछ घटनाए एकागी नहीं होती। आदमी के एक विचार के पीछे दूसरे विचार और एक एक्शन के पीछे दूसरे एक्शन छिपे रहते हैं और अनजाने ही मेरी कहानियो की तरह मेरे एकाकी भी जटिल हो गए। मैं नहीं जानता, कब मेरी रचनाओ मे एक साथ दो-दो अथवा तीन-तीन मूलभूत विचारों का समावेश होने लगा और मैं एक एकाकी के माध्यम से बहुत कुछ कहने का प्रयास करने लगा—कहूँ कि बहु-उद्देशीय रचनाए करने लगा···मैमूना, चरवाहे, चमत्कार, तौलिए आदि ऐसे ही एकाकी हैं और पहले एकांकियों के बाद उन्हे पढने पर पाठक मेरी बात के मर्म को पा जायेंगे।···इधर शिल्प मे फिर परिवर्तन हुआ है और नयी बात को नये ढंग से तो कहा ही जा रहा है, पुरानी बात को भी नये शिल्प में रखने की कोशिश की जाती है। पश्चिम के एब्सर्ड नाटकों की शैली का भी प्रभाव यहा के कथाकारो और कवियों पर पडा है। मैंने तो इधर वर्षों से कोई एकाकी नही लिखा, पर कल यदि लिखूगा तो उसमे नये शिल्प का कोई असर नही आएगा, यह मैं नही कह सकता।" अश्क के वैविध्यपूर्ण ढेरो एकांकियों में से 'पापी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 'जोंक', 'तूफान से पहले', 'चरवाहे', 'चिलमन', 'मैमूना', 'चमत्कार', 'देवताओं की छाया मे', 'सूखी डाली', 'चुम्बक', 'पक्का गाना', 'तौलिए', 'पर्दा

उठाओ : पर्दा गिराओ', 'अंधी गली' (तीन एकाकी) इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। सामाजिक, प्रतीकात्मक और मनोवैज्ञानिक गहन-गम्भीर रचनाओं तथा हास्य-व्यग्यपूर्ण हल्की-फुल्की सभी कृतियों में अश्क ने अपनी प्रतिभा का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

अपने लेखन-काल के लगभग चवालीस-पैंतालीस वर्षों मे कुल जमा बारह-चौदह एकाकी (दो सकलन) लिखकर हिन्दी के एकाकी-साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लेने वाले **जगदीशचन्द्र माथुर** का महत्त्व मूलत: इस बात मे है कि उन्होंने अपनी नाट्य-कृतियों मे नाट्यानुभूति और काव्यानुभूति में अद्भुत सामजस्य स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की तथा नाटक को रंगमच से जोडने मे सहयोग दिया।

अपने समकालीन जीवन और समाज से गहरी संलग्नता इनके सभी एकाकियो का मूल है और 'भोर का तारा', 'कलिंग विजय' तथा 'विजय की वेला' नामक उनके ये ऐतिहासिक एकांकी भी इसके अपवाद नही हैं। यहाँ अतीत के माध्यम से इन्होंने अपने सामाजिक-बोध को ही अभिव्यक्ति दी है। 'आवेश' माथुर साहब की एकाकी-कला की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेपता है, जो सयमित-भावुकता और संतुलित काव्यात्मकता के माध्यम से प्रकट होती है। 'ओ मेरे सपने' लेखक के 'नटखट एकाकियों' का संकलन है। ये एकाकी हमारे जीवन और जगत की विडम्बनापूर्ण स्थितियो एवं विसगतियो से छेड़छाड़ करते हुए अनायास उन्हे अनावृत कर देते हैं। इनमें हमें हँसी-मजाक के भीतर गहरे व्यंग्य के दर्शन होते है। ये एकाकी फुलझड़ी की तरह हमारा मनोरंजन करते हैं परन्तु अंत मे उसकी गर्म तार की गर्मी और जलन से हमे तिलमिला भी देते हैं। 'घोंसले', 'खिड़की की राह', 'कबूतरखाना', 'भाषण' और 'ओ मेरे सपने' इसी प्रकार के खट्टे-मीठे एवं तीखे एकांकी हैं। इस संदर्भ में एक विशेष बात है कि माथुर अपने व्यग्य मे भी निर्मम न होकर संवेदनशील और मानवीय बने रह सके हैं। 'बंदी', 'खण्डहर', 'विजय की वेला', जैसे एकाकियों का लोक-तत्त्व भी हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और अधिकांश रचनाओं के आकस्मिक नाटकीय अंत का मास्टर-स्ट्रोक भी अलक्षित नही रहता। प्रभाव की अन्विति और तीव्रता के कारण ये एकाकी आज भी रंगमंच और रेडियो दोनों माध्यमो मे समान रूप से लोकप्रिय और चर्चित है।

स्वतंत्रता के बाद और खासतौर से १९५५ और ६० के आसपास हमारे यहां रंगमंच का जो एक राष्ट्रव्यापी जबरदस्त आन्दोलन शुरू हुआ था उसमें महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले हिन्दी के जो अनेक एकाकीकार-नाटककार सामने आए, उनमें **डा० लक्ष्मीनारायण लाल** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'ताज महल के आँसू' से लेकर 'दूसरा दरवाजा' तक इन्होंने एक लम्बी रग-यात्रा तय की है। प्रारम्भ में इनकी रुचि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की

और विशेष रूप से थी परन्तु कालान्तर में वह क्रमशः उस अतीतोन्मुखी रोमानी भावुकता से मुक्त होकर अपने समय के यथार्थ और उसके भीतर के सत्य से जुड़ते चले गए। परन्तु हर दौर में उनका आग्रह रंगमचीय एकांकी लिखने का रहा और इसके लिए उन्होंने बहुविध शिल्प-प्रयोग कर एकांकी को परम्परित रूढ़ियों और रूपगत शृंखलाओं से मुक्त कराया है। उनके अनुसार "इसमें सबकी अपेक्षा है और अमान्य स्थितियों में सब अग्राह्य भी है—केवल परम आवश्यक है, एकाकी में एकाग्रता और एकांत प्रभाव। इसकी प्राप्ति के लिए एकांकीकार जो भी तंत्र उसमें प्रस्तुत करता है वस्तुत. वही एकाकी की शिल्प-विधि है और वही एकांकीकार की अपनी मौलिकता की छाप है।" इस मौलिकता और तंत्र की तलाश में डा० लाल अपने एकांकी को लघु-नाटक तक के क्षेत्र में ले जाते हैं और 'यक्ष प्रश्न', 'उत्तर-युद्ध', 'सबरंग' तथा 'मोहभग' जैसे अभिनव प्रयोग कर डालते हैं। डा० लाल विचार, व्याख्या, मार्मिक और नाटकीय स्थिति की पकड़ के साथ-साथ काव्य व गीत, संगीत और रंग-तत्त्वों के अभिनव प्रयोग के धनी कलाकार हैं। इनके बडे नाटको की अपेक्षा इनके एकांकियों और लघु-नाटकों मे प्रभावान्विति, सघनता और एकाग्रता अधिक है और यही कारण है कि 'मम्मी ठकुराइन', 'मड़वे का भोर', 'वसन्त ऋतु का नाटक', 'काफी हाउस में इतजार', 'दूसरा दरवाजा', 'यक्ष प्रश्न', 'उत्तर युद्ध' जैसे एकाकी/लघु नाटक हिन्दी नाटक और रगमच की विशिष्ट कृतिया बन गए है।

डा० धर्मवीर भारती ने केवल पाँच ही एकाकी लिखे है, जो १९५४ मे 'नदी प्यासी थी' संकलन में प्रकाशित हुए थे। इनमे से एक 'सृष्टि का आखिरी आदमी' (पद्य रूपक) रेडियो एकांकी है तथा 'नदी प्यासी थी' एवं 'सगमरमर पर एक रात' भावुकतापूर्ण प्रेम-त्रिकोणात्मक कथाए। 'आवाज का नीलाम' अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर आधारित होने के बावजूद लेखक के अतिशय भावुकतावादी दृष्टिकोण के कारण कोई गहरा प्रभाव नहीं डालता। फिर भी, अकेले 'नीली झील' के बल पर भारती ने हिन्दी के एकांकी साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। 'नीली झील' एक फैन्टेसी है जिसने कथ्य एव शिल्प के कलात्मक नाटकीय उपयोग से हिन्दी रगमच के नये आयाम उद्घाटित किए हैं।

मोहन राकेश का नाम यू तो नाटककार के रूप मे ही विशेष महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है और जीते जी उन्होंने अपने एकांकियों का कोई संकलन प्रकाशित भी नही होने दिया परन्तु मृत्यु के बाद उनके दो एकांकी संग्रह छपे हैं—'अडे के छिलके अन्य एकाकी तथा बीज नाटक' और 'रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक'। इसमें से 'रात बीतने तक' मचीय नाटक 'लहरो के राजहस' का पूर्व एकाकी रूप है और 'आषाढ का एक दिन' इसी नाम के नाटक का रेडियो

रूपान्तरण। 'उसकी रोटी' (कहानी) तथा 'आखिरी चट्टान तक' (संस्मरण) की भी यही स्थिति है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' संस्कृत नाटक का हिन्दी रेडियो रूपान्तर है। 'सुबह से पहले', 'कवारी धरती' तथा 'दूध और दांत' मूलतः ध्वनि-नाटक के रूप मे ही लिखे गए प्रतीत होते है। 'अंडे के छिलके', 'सिपाही की माँ', 'प्यालियाँ टूटती है' तथा 'बहुत बड़ा सवाल' में से अंतिम को छोड़कर कोई भी विशेष उल्लेखनीय नहीं है। फिर भी, हिन्दी एकाकीकारों में राकेश का नाम और योगदान अनुल्लेखनीय नही माना जा सकता और इस क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा का आधार मूलतः 'शायद' और 'हूँ:!' नामक उनके दो बीज नाटक तथा 'छतरियाँ' नामक एक पार्श्व-नाटक है। अपने बीज-नाटकों में राकेश ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को बहुत बारीक छानबीन करते हुए अपने आसपास के अनाटकीय जीवन के नाटक को पकड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। बोलचाल की सर्जनात्मक नाट्य-भाषा और तीखी-पैनी संवाद-रचना की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' का पूर्वाभ्यास होने के बावजूद इनके स्वतन्त्र मूल्य को नकारा नहीं जा सकता। 'छतरियाँ' में भाषा के विखंडन द्वारा राकेश ने अपनी रचनाधर्मिता का एक बिल्कुल नया और अनोखा आयाम प्रस्तुत किया है। यहाँ पार्श्व ध्वनियो के साथ मच पर अभिनेता के क्रियाकलापो के विविध सयोजनों द्वारा अद्भुत नाट्य-प्रभाव उत्पन्न किया गया है।

मोहन राकेश की ही नाट्य-परम्परा मे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के श्रेष्ठ रंग-नाटक लिखने वालो में सुरेन्द्र वर्मा का नाम सर्वोपरि है। अब तक उन्होंने केवल छ ही एकाकी लिखे हैं—'शनिवार को दो बजे', 'वे नाक से बोलते है', 'हरी घास पर घंटे भर', 'मरणोपरान्त', 'नीद क्यों रात भर नही आती' तथा 'हिंडोल इंगुर'। अंतिम को छोड़कर शेष पाँचों एकांकी हमारे समकालीन रंग-जगत के बहुमचित और बहुचर्चित एकाकी हैं। इन सबमे एकांकीकार ने मध्यमवर्गीय नैतिकता और स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के बदलते रूपों तथा मूल्यो को विविध कोणो से देखने-दिखाने और गहराई से विश्लेषित करने का प्रयास किया है। आक्रामक कथ्य और अभिनव रंग-प्रयोगों के कारण ये एकाकी अपनी तीव्र नाट्यानुभूति से दर्शक-पाठक को उत्तेजित कर देते है। बोलचाल की भाषा के सर्जनात्मक नाटकीय उपयोग से प्रभावपूर्ण संवाद-लेखन की कला मे सुरेन्द्र को कमाल हासिल है परन्तु इसके साथ ही 'नाटकीय मौन' से विस्फोटक प्रभाव पैदा करने की कला भी वह बखूबी जानते हैं। रंगमच के माध्यम तथा उसके व्याकरण का व्यावहारिक और गहरा ज्ञान नाटककार के पास है—ये एकाकी इसके प्रमाण है। इस एकांकीकार के अनुभव का क्षेत्र काफी सीमित है—यह अलग बात है कि अपनी सीमा मे वह कोई सीमा स्वीकार नही करता और अनुभव की अतल गहराइयों तक उतरता चला जाता है। इन एकांकियों ने हिन्दी रंग-जगत पर अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़ा है और हिन्दी के युवा नाटककारों

में सुरेन्द्र वर्मा सर्वाधिक चर्चित और सम्भावनापूर्ण नाटककार हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में जीवन की निस्सारता, निरर्थकता और तर्कहीनता को लेकर जो असगत, विसंगत अथवा एब्सर्ड नाट्य-परम्परा उभरी उसने कथा-विन्यास, चरित्रांकन, भाषा, संवाद, शैली और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से नाटक के परम्परागत 'फार्म' को आमूलचूल बदल डाला। **बैकेट, जैने, आयोनेस्को, पिण्टर, आल्बी** इत्यादि बहुचर्चित और प्रतिभासम्पन्न नाटककारों का प्रभाव हिन्दी नाटक और एकाकी पर न पड़ता—यह असम्भव था। जीवन और जगत के फूहड़पन, छिछलेपन और बेहूदेपन की विडम्बना को अतिरंजना और मजाक के हास्यास्पद स्तर तक खीचकर भीतर की त्रासदी और करुणा को बेतरतीब सवादों, बेढंगी परिस्थितियों, अपरिचित और अजीब पात्रों तथा अजनबी तकनीक के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास यू तो **भुवनेश्वर** के 'तांबे के कीड़े' (१९४६) से ही आरम्भ हो गया था—और कमोवेश हिन्दी के तमाम एकाकीकारों ने इधर किसी न किसी रूप में एब्सर्ड रंग-तत्त्वों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया ही है परन्तु इसे सम्पूर्णतः स्वीकार कर हिन्दी मे एब्सर्ड नाटकों की सही शुरुआत करने वालों मे **लक्ष्मीकांत वर्मा, शम्भूनाथ सिंह, सत्यव्रत सिन्हा,** और विशेषकर **विपिन कुमार अग्रवाल** विशेष उल्लेखनीय हैं। 'तीन अपाहिज' में संकलित विपिन अग्रवाल के ग्यारह एकाकियों मे से 'तीन अपाहिज', 'ऊंची-नीची टांग का जांघिया', 'एक स्थिति', 'यह पूरा नाटक एक शब्द है' और 'कूड़े का पीपा' जैसी रचनाओं ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को एक नया व्याकरण प्रदान किया है। इन एकाकियो मे कथाविहीनता, प्रतीकात्मकता, हास्य-व्यग्य, बेतुकी स्थितियों के जाल, अतार्किक कथोपकथन और बोलचाल की भाषा के विशिष्ट बहुआयामी प्रयोग द्वारा ऐसे ससार की सृष्टि की गई है जिसमें दर्शक की अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण साझेदारी है। इन एकाकियों का साक्षात्कार हमें एक अद्भुत, तीव्र, नया और असुविधाजनक अनुभव प्रदान करता है। परन्तु हिन्दी एकाकी साहित्य मे एक तेज झोंके की तरह यह नाट्य-शैली आई और बिना कोई स्थायी अथवा गहरा प्रभाव छोड़े लगभग समाप्त भी हो गई।

इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित या अप्रकाशित किन्तु मंचित **शांति मेहरोत्रा** का 'एक और दिन' **शोभना भूटानी** का 'शायद हां', **शरद जोशी** के 'बैंगन की नाव' 'अंधों का हाथी' और 'तुम्हारी यही कहानी', **लक्ष्मीकांत वैष्णव** के 'मिनिस्टर से मुलाकात', 'सरकारी दफ्तर का एक दिन', तथा 'नुक्कड़' नाटक, **गिरिराज किशोर** का 'हम रोशनी बाटते हैं', **रामेश्वर प्रेम** का 'चारपाई', **राधेश्याम** का 'अफीम के फूल' कुछ ऐसे एकाकी अथवा लघु-नाटक है जो इस बीच काफी पढ़े-देखे गये और चर्चित हुए।

हिन्दी एकाकी के संदर्भ में रेडियो-एकाकियों की चर्चा करना अत्यन्त

आवश्यक किन्तु कठिन है। आवश्यक इसलिए कि वह भी हिन्दी एकांकी का एक अभिन्न और अनिवार्य अंग है तथा कठिन इसलिए कि हिन्दी का शायद ही कोई एकांकीकार-नाटककार हो जिसने रेडियो के लिए न लिखा हो या जिसकी अधिकांश रचनाएं रेडियो से प्रसारित न हुई हों। इस सम्बन्ध में एक दिक्कत यह भी है कि अधिकतर रेडियो-एकांकी या तो प्रकाशित ही नहीं होते और यदि होते भी हैं तो कुछ रंग-संकेत और किंचित् हेर-फेर के साथ तथाकथित मंच-एकांकी के रूप मे। नाटककारों के इस दो तरफा लाभ के लालच ने हिन्दी नाटक और एकांकी को भयानक क्षति पहुंचाई है। दोनो माध्यमों के मूलभूत अंतर को न समझने अथवा समझ कर उसे महत्त्वपूर्ण न मानने की प्रवृत्ति के कारण ही दोनों क्षेत्रों में प्राय. कालजयी कृतियो का अभाव बना रहा है। ऊपर हम रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशकर भट्ट, जगदीशचन्द्र मायुर, सेठ गोविन्ददास इत्यादि का उल्लेख इस संदर्भ में कर चुके है। अब हम यहा उन महत्त्वपूर्ण एकाकीकारों की चर्चा करेंगे, जो मूलत: रेडियो नाटककार हैं किन्तु जिनके कुछेक एकांकी मंच पर भी उतनी ही सफलता से प्रस्तुत किए जा सके हैं। इस वर्ग के रचनाकारों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम है—विष्णु प्रभाकर। वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि "सच तो यह है कि अभी तक मैंने रेडियो के लिए ही लिखा है। उनमें से कई एकाकी रगमंच पर आये हैं और उन्होंने मेरे इस विश्वास को दृढ़ किया है कि रगमंच और रेडियो कला की दृष्टि मे बिलकुल दो चीजें हैं।"

विष्णु प्रभाकर मानवतावादी कलाकार है और यथार्थ की अपेक्षा मानव-मूल्यो के आदर्श रूप का उदात्त चित्रण ही आपको अधिक भाता है। हल्की-सी भावुकता और आध्यात्मिकता के साथ मानव-मन का सूक्ष्म विश्लेषण आपकी प्रमुख विशेषता है। मानव के करुण-कोमल, संवेदनशील और भाव-प्रवण रूप में आपकी अटूट आस्था है। विष्णु प्रभाकर के रेडियो एकाकियो में 'मीना कहा है ?', 'क्या वह दोषी था ?,' 'प्रकाश और परछाई', 'दो किनारे', 'समरेखा-विषम रेखा', 'सांप और सीढ़ी', 'सवेरा', 'संस्कार और भावना', 'उपचेतना का छल', 'वीर पूजा', 'दस बजे रात', 'दरिन्दा', 'सांकले', 'मैं भी मानव हू', 'आंचल और आंसू', 'रक्त चंदन', 'डरे हुए लोग' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त 'सड़क', 'धुआ', 'नये पुराने' तथा 'नही, नही, नही' विष्णु जी ने चार रेडियो-स्वगत नाट्यो (मोनोलाग) की रचना भी की है जो अपने क्षेत्र में पर्याप्त चर्चित प्रशसित हुए हैं।

समकालीन जीवन की सरलीकृत स्थितियों, बोलचाल की भाषा में सहज-सरल सवादों और भावकतापूर्ण दृष्टिकोण के कारण **रेवतीशरण शर्मा** के रेडियो एकांकी 'आंसू', 'क्रिसमस की शाम', 'एक लम्हा पहले,' 'अभागिन', 'रोशनी', 'अंधेरा उजाला', 'पत्थर और आंसू,' 'डाक्टर बीवी', 'इम्मान', 'कल', 'मुझे जीने

दो', 'फूल और चिनगारी', 'अमावस का अंधकार' इत्यादि सभी वर्ग के श्रोताओ द्वारा बहुत पसंद किये गए नाटक है।

सरकारी नीतियों को जनसामान्य के स्तर तक उतर कर नाटक के माध्यम से प्रचारित करने वाले लेखकों में **चिरंजीत** का नाम सर्वोपरि है। यद्यपि इन्होंने सभी प्रकार के—गम्भीर, रोमांचक, सामाजिक, दुःखान्त—नाटक लिखे है, परन्तु इनकी प्रशंसा विशेष रूप से सामयिक समस्याओ पर लिखे गए हल्के-फुल्के हास्य-व्यंग्य के कारण ही अधिक हुई है। उनके 'ढोल की पोल' को रेडियो श्रोता आज भी भूल नही पाए हैं। इनके कुछ प्रमुख नाटकों के नाम इस प्रकार है—'ब्याह की धूम', 'होरी आई रे लला', 'पतझड़ की एक रात', 'महाश्वेता', 'खजाने का साप', 'अखबारी विज्ञापन', 'सड़क पर', 'साप वाला मकान', 'दादी माँ जागी' इत्यादि। सामयिक समस्याओं पर हल्के-फुल्के हास्य-व्यंग्य लिखने वालों में **राजेन्द्र कुमार शर्मा, विमला लूथरा, स्वदेश कुमार, हिमांशु श्रीवास्तव** के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

आकाशवाणी से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सम्बद्ध रहकर इस श्रव्य माध्यम की अधिकाधिक सम्भावनाओं का दोहन करके गम्भीर रेडियो नाटक/एकांकी (गद्य-पद्य) लिखने वालों मे **गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, कर्तारसिंह, दुग्गल, हरिश्चन्द्र खन्ना, लक्ष्मी नारायण मिश्र, अज्ञेय, सुमित्रानन्दन पन्त, अमृतलाल नागर, सत्येन्द्र शरत्, कणाद ऋषि भटनागर, जानकी वल्लभ शास्त्री, लक्ष्मीकांत वर्मा, नरेश मेहता, विनोद रस्तोगी, सिद्धनाथ कुमार, गिरीश बक्षी** इत्यादि का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

स्पष्ट है कि गत ४०-४५ वर्षों मे हिन्दी एकांकी ने एक लम्बी यात्रा तय की है और प्रतिभावान एकांकीकारो द्वारा कथ्य एवं शिल्प के धरातल पर किए गए बहुविध प्रयोगों से इस साहित्य-विधा के नये आयाम उद्घाटित हुए हैं। भारतीय इतिहास-पुराण के उदात्त चरित्रों के महान आदर्शो की पुनर्स्थापना से लेकर, समकालीन जीवन के टूटते और बदलते हुए सम्बन्धों तथा मूल्यों के यथार्थपरक नाट्य-सकेतों के साथ-साथ आज के व्यक्ति की कुण्ठा, कुढ़न, पीड़ा, बेचारगी और त्रासदी तथा सामाजिक-राजनीतिक दबावों-तनावो से संत्रस्त मानव और उसकी नियति की प्रभावपूर्ण नाटकीय अभिव्यक्तियां इन एकांकियों में भरी पड़ी है। अपने समय के इन छोटे-छोटे किन्तु प्रामाणिक दस्तावेजों के महत्व और योगदान को नकारा नही जा सकता और न ही उपेक्षित किया जा सकता है। परन्तु यह भी सत्य है कि पिछले लगभग चार-पाच वर्षों से लघु-नाटकों की अत्यधिक लोकप्रियता ने विशुद्ध एकांकी-लेखन को काफी क्षति पहुँचाई है और अपनी विशिष्ट उपलब्धियों वाले इस समृद्ध कला-रूप का भविष्य फिलहाल बहुत सम्भावनापूर्ण प्रतीत नही हो रहा है।

फिल्म और रंगमंच

Like other products of technology, cinema has constituted a serious threat to the traditional modes of social existence and behaviour. It has had a particularly devastating impact on the ageold forms of performing arts like theatre, *with which it has developed a kind* of dialectical relationship since its very advent even in the Western world where the theatre had deeper roots and an unbroken continuity ......the challenge or the threat of the films is the greatest for the Hindi theatre which does not have even a weak but continued tradition of regular activity.

☐ *N. C. Jain*

३

फिल्म और रंगमंच—एक

आमतौर पर 'अभिनयात्मक' अथवा 'प्रदर्शनात्मक कला' की दृष्टि से रंगमंच और सिनेमा को एक ही विधा के दो रूप मान कर फिल्म को रंगमच का यान्त्रिक विस्तार अथवा उसकी 'सेल्यूलाइड कापी' कहा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी एक ओर यदि अभिनय, नाटक और रगमंच की जड़े मानव जन्म और उसके इतिहास के आदि-काल तक चली गई हैं तो दूसरी ओर सिनेमा ने अभी अपने जीवन-इतिहास के आठ दशक भी पूरे नही किए हैं। अभी यह कल की सी बात लगती है जबकि फिल्म व्यवसाय लगभग सभी दृष्टियों से नाटक और रंगमंच के खूटे से बंधा हुआ था। हमारे यहाँ, अपने आरम्भिक दौर में फिल्मों के अधिकतर कलाकार पारसी नाटक कम्पनियों के साथ इप्टा और पृथ्वी थ्येटर की ही देन थे। उस दौर की एक महत्त्वपूर्ण फिल्म **धरती के लाल** विजन भट्टाचार्य के दो नाटकों **नवान्न** तथा **जवान बंदी** पर आधारित थी और **लैला मजनू**, **शीरीं फरहाद** और **सती सावित्री** जैसी अनेकों फिल्में भी तत्कालीन रंगमंच की ही देन थी। ख्वाजा अहमद अब्बास, बलराज साहनी, चेतन आनन्द, देव आनन्द, जसवन्त ठक्कर, रशीद खान, अजरा, शम्भु मित्र, तृप्ति मित्र और कपूर परिवार के कलाकार रंगमंच से ही आए थे और आज के इस नए दौर में भी अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार ऐसे ही हैं जिनका थ्येटर से गहरा सम्बन्ध रहा है या अब भी है। संजीव कुमार, राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन, अमोल पालेकर, कबीर बेदी, इत्यादि से लेकर ओम् शिवपुरी, सत्यदेव दुबे, अमरीश पुरी, सत्येन कप्पू, मन मोहन कृष्ण, ए० के० सेठी, साधु, मेहर, कुल भूषण खरबदा, टी० पी० जैन, मोहन अगाशे, गिरीश कर्नाड, नसीरुद्दीन शाह, उत्पल दत्त, डा० श्रीराम लागू, अनन्त नाग, एम० के० रैना, दिनेश ठाकुर, दीनानाथ, नमित कपूर, मनोहर सिंह, चमन वग्गा, (बी० एम० शाह, राजेश विवेक, राज बब्बर) सुधा शिवपुरी, सुलभा

देशपांडे, शबाना आजमी, दीना पाठक, सविता बजाज; विजय तेंदुलकर, श्याम बेनेगल, एम० एम० सथ्यू, शमा जैदी, सई परांजपे, ब०व० कारन्त, मृणाल सेन इत्यादि न जाने आज के कितने फिल्म अभिनेता, निर्देशक, कलाकार, लेखक ऐसे हैं जो रंगमंच से प्रत्यक्षतः जुड़े रहे हैं—और अब भी उसे अपना मूल क्षेत्र मानते हैं। स्व० मोहन राकेश, गिरीश कर्नाड, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, ज्ञानदेव अग्निहोत्री और डा० शंकर शेष जैसे नाटककारों की फिल्म जगत से संलग्नता तथा **आषाढ़ का एक दिन, आधे अधूरे** (अपूर्ण) **शान्तता: कोर्ट चालं आहे, चरनदास चोर, घरौंदा** (अनिकेत) तथा **आनन्द महल** (वल्लमपुर की रूपकथा) जैसे बहुचर्चित नाटकों का फिल्मीकरण भी इन माध्यमों की एकता की पुष्टि करता है।

व्यापक परिदृश्य में देखें तो केवल भारतवर्ष और हिन्दी में ही नहीं विश्व सिनेमा की कई प्रमुखतम प्रतिभाएं जैसे—इलिया कज़ान, अकिरा कुरोसावा, इंगमार बर्गमन, पेटरवाइज, जेल्टान फावरी तथा वुडवर्ड, ब्रैंडो, रोड स्टीगर, सेन्ट, डॉन आर्सन, वैलेस, इनग्रिड थुलिन, लोइस जावेट इत्यादि मूलतः रंगमंच के ही व्यक्ति रहे हैं। विश्व सिनेमा की अन्यतम विभूति चार्ली चैपलिन भी रंगमंच की ही देन है। शेक्सपीयर और टेनेसी विलियम्स के अधिकांश नाटकों पर आधारित फिल्मों के साथ-साथ **माई फेयर लेडी, बैकेट, खून का सिंहासन** जैसी बहुचर्चित रचनाएं भी इस रिश्ते की गहराई को ही रेखांकित करती हैं।

आलेख (कहानी) अभिनेता, निर्देशक, संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य), छाया और प्रकाश, वस्त्र एवं रूप-सज्जा, दृश्य-बंध (सेट), प्रेक्षागृह, दर्शक और प्रदर्शनीयता की दृष्टि से निस्सन्देह रंगमंच और सिनेमा में आन्तरिक, गहन और आत्मीय सम्बन्ध प्रतीत होता है।

जिन दर्शकों ने कभी नृत्य-सम्राट उदय शंकर के नाट्य-फिल्म समन्वित दृश्य-कला प्रयोग—'शंकर स्कोप' को देखा है वे तो सम्भवतः इन्हें समानधर्मा पूरक कलाएँ तक मानना चाहेंगे।

ये तमाम तथ्य अपनी जगह सही हैं परन्तु सूक्ष्म रूप से देखने पर आप पाएंगे कि ये समानताएँ बहुत ऊपरी और मामूली हैं तथा अपने मौलिक और विशुद्ध रूप में इन दोनों कला-रूपों में कोई बुनियादी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है।

दर्शक और अभिनेता की दृष्टि से रंगमंच एक प्रत्यक्ष और जीवन्त साक्षात्कार का माध्यम है जब कि सिनेमा एक यांत्रिक पुनर्प्रस्तुतिकरण मात्र है। रंगमंच के मुखर अभिनय में एक प्रकार का 'थ्रिल' रहता है। अभिनेता को अपनी सम्पूर्ण भूमिका एक ही बार में लगातार निभानी होती है—ठीक कमान से छूटे तीर की तरह। हर नये प्रदर्शन में, नये दर्शकों की उपस्थिति और तात्कालिक प्रतिक्रिया अभिनेता के लिए एक नयी चुनौती उपस्थित करती है। प्रत्येक प्रदर्शन में उसका अभिनय एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक यात्रा करता है और यही

कारण है कि एक ही नाटक के विविध प्रदर्शन वास्तव में एक स्तर पर अलग-अलग रचना होते हैं। इसके विपरीत सिनेमा के अभिनय में न सारे संवादों को एक साथ रटने की समस्या है और न भूमिका को एक ही बार मे अभिनीत करने की। फिल्मांकन के समय कथाक्रम का कोई महत्त्व नही होता और कोई भी दृश्य या प्रसग पूर्वापर सम्बन्ध की चिन्ता किए बिना कभी भी फिल्माया जा सकता है। असम्बद्ध और असंगत से टुकड़ों में बँटी इस फिल्म को बाद मे सम्पादक वाछित क्रम (कंटीन्यूटी) देकर सगति और अन्विति प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त सिनेमा अभिनेता को 'रीटेक' की भी सुविधा रहती है और बीसियों बार किये गए उसके गलत या कमजोर अभिनय का सकेत तक दर्शकों को नहीं मिलता जबकि मंच पर कलाकार की जरा-सी गलती भी तत्काल पकड ली जाती है। फिल्म-अभिनेता एक बार अपना काम समाप्त कर चुकने के बाद फिल्म से पूर्णतः और अन्तिम रूप से मुक्त हो जाता है जबकि मंच अभिनेता को यह सुविधा कभी नहीं मिलती और वह अपनी मंच उपस्थिति के समय संवाद, भावों की अभिव्यक्ति और क्रियाकलाप में अपेक्षित 'समय सतुलन' में पल भर के लिए भी शिथिलता नही ला सकता। सम्भवतः इसीलिए अच्छे मंच अभिनेताओं को फिल्म-अभिनय 'बच्चों का खेल' प्रतीत होता है।

नाटक अपने मूल रूप मे 'अवस्था की अनुकृति' ('अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) है जिसे अभिनेता मंच पर प्रस्तुत करता है। अत रगमच का पहला और अन्तिम सत्य है—अभिनेता। नाटक से वेषभूषा, मज्जा, पाठ, रंगशाला वगैरह सभी को निकाल सकते हैं—अभिनेता या अभिनय को नही। इसके विपरीत **उसकी रोटी, आषाढ़ का एक दिन** तथा **दुविधा** जैसी बहुचर्चित, कलात्मक और पुरस्कृत फिल्मो के निर्माता-निर्देशक मणि कौल का कथन है कि, "अभिनय की कोई जगह ही नही है सिनेमा में। अगर मैं अभी भी इसका उपयोग कर रहा हूं तो इसलिए कि मैं एक सम्पूर्ण फिल्म बनाने मे असमर्थ हू।" अत. सिद्ध यह हुआ कि रगमच के विपरीत अपने शुद्धतम और नग्नतम रूप में फिल्म-माध्यम का अंतिम सत्य 'निर्देशक' है अभिनेता नही।

सम्प्रेष्य तत्त्व की दृष्टि से रंगमंच यदि अभिनेता के माध्यम से शब्द व दृश्य समन्वित अभिनय प्रस्तुत करता है तो सिनेमा मे बिम्ब ही सर्वोपरि है जो वास्तव में फिल्म की दृश्य-भाषा की सृष्टि करते है। इस सृष्टि के लिए "मुझे विषय वस्तु की परवाह नही। अभिनय की परवाह नही। लेकिन फिल्म के छायाकन, सपादन, ध्वनि और उन सारे तकनीकी पक्ष की चिन्ता (परवाह) है जो फिल्म की दृश्य-भाषा की रचना करते है।" यह शब्द **रोप, रिअर विंडो** और **सायको** जैसी बहुचर्चित एव महत्वपूर्ण फिल्मो के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अमरीकी निर्देशक एल्फ्रेड हिचकाक के है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि **सायको** की दो रीलों मे कोई संवाद नहीं है और सब कुछ दृश्य-बिम्बों के माध्यम से ही सम्प्रेषित

किया गया है। स्पष्ट है कि फिल्म-निर्देशक की दृष्टि में जो कैमरा, सम्पादन, साउण्ड ट्रैक और अन्य तकनीकी पक्ष फिल्म के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है— उनका नाटक या रंगमंच से दूर का भी कोई सम्बन्ध नही है।

अत. रंगमच के लिए मानव और मानव-देह सर्वोपरि है तो सिनेमा के लिए मशीन और तकनीक।

दिन-प्रति-दिन लोकप्रिय, व्यापक और प्रभावशाली बनते सिनेमा की प्रतियोगिता में रगमच ने भी यथार्थवादी और संश्लिष्ट बनने की कोशिश की है। परन्तु भारत जैसे विकासशील और आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत निर्धन देश मे साधनहीन शौकिया रंगमंच करोड़ों की लागत से बनी फिल्मों की प्रतियोगिता में नही ठहर सकता।

इसके अतिरिक्त रंगमंच केवल आधुनिक प्रकाश उपकरणों को छोड़कर आधुनिक विज्ञान या तकनीक के किसी भी अन्य आविष्कार को आत्मसात करने मे प्रायः असमर्थ ही रहा है। इसके विपरीत, सिनेमा बहुत कम समय मे ही मूक चित्रों से चलकर सवाक फिल्मो तथा विकसित स्टीरियो साउड तकनीक और ('वाइड स्क्रीन' 'इ-डी,' 'सिनेमा-स्कोप' और अब ७० एम० एम० तक आ पहुचा है।

मंच और प्रेक्षागृह तथा अभिनेता और प्रेक्षक की दूरी को दूर करने के लिए इस बीच रगमंच ने अनेक प्रयोग किए हैं—डा० लाल का **मादा कैक्टस**, बृज मोहनशाह का **त्रिशंकु** और बादल सरकार का **जुलूस** इसके प्रमुख उदाहरण है। परन्तु फिल्मों के 'क्लोज अप' के टक्कर की कोई चीज रंगमंच नही उपलब्ध कर सका। विकसित प्रकाश यंत्रों तथा मंदकों (डिमर्स) एवं नयी अभिनय तकनीको की सहायता से रंगमंच पर अब दृश्यो का फिल्मो की तरह 'विलोपन' और 'प्रकटन'(फेंड आउट एवं फेड इन)पूर्व स्मृति(फ्लैश बैक) कल्पना(फ्लैश फारवर्ड) स्थिरीकरण (फ्रीजिग) विलम्बित गति-द्रुत गति, और समातर प्रसंगों के नाटकीय प्रस्तुतीकरण तो अब आम बात हो गई है परन्तु अलग-अलग बिम्ब और उनका अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सिनेमा कैमरे के सृजनात्मक प्रयोग से 'लौंग शाट', 'मिड' और 'मिडक्लोज शॉट', 'डौली शाट', 'लो ऐंगिल शाट', 'पैनिंग' 'रिएक्शन शाट', 'जंप कट', 'वाइप' इत्यादि का जो प्रभावपूर्ण उपयोग करता है तथा 'जूम' और 'फिश आई' जैसे मायावी लैंसों से जो जादुई प्रभाव उत्पन्न करता है उसका मुकाबला करने वाला कोई कारगर हथियार अभी रंगमंच के पास नही है।

तकनीकी दृष्टि से सिनेमा का माध्यम निस्सन्देह रंगमंच की अपेक्षा अधिक समृद्ध किन्तु जटिल है। आज की रंगीन फिल्मों में पुरानी न्यूजरील के महत्त्वपूर्ण और अपेक्षित श्वेत श्याम अशों को इकरगी दृश्य (मोनोक्रोम) के रूप में रग कर इस्तेमाल करके तथा नेगेटिव के ऊपर पोजिटिव को 'सुपर इंपोज' करके सूर्यन

(सोलाराइजेशन) द्वारा अत्यधिक तनाव अथवा उत्सुकता वाले दृश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। 'प्रोसेसिंग' के अन्तर्गत ध्वनियों के मैगनेटिक टेप से आप्टीकल प्रिंट तैयार किया जाता है और फिर अंतिम प्रिंट बनाते समय उसे बिम्बों वाले फ्रेम के साथ संलग्न कर दिया जाता है।

स्पष्ट है कि रंगमंच और सिनेमा के 'नेपथ्य' में जमीन-आसमान का अन्तर है।

सिनेमा और रंगमंच का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर 'स्पेस' के प्रयोग को लेकर है। यह सत्य है कि हमारे नये नाटक और रंगमंच ने आज ड्राइंग-रूम वाले सीमित यथार्थवादी दृश्य-बंध से मुक्ति पा ली है और इब्राहिम अल्काजी, ब० व० कारंत, राजिन्दर नाथ, बादल सरकार, हबीब तनवीर, श्यामानंद जालान, सत्यदेव दुबे, अमोल पालेकर, रंजीत कपूर, एम० के० रैना जैसे अनेक प्रतिभा सम्पन्न नाट्य निर्देशकों ने इसे पर्याप्त व्यापकता, विस्तार, गति और स्वतंत्रता प्रदान की है। 'अंधायुग', ''तुगलक', 'खड़िया का घेरा', 'तीन टके का स्वांग', 'दाँतों की मौत', 'रस गंधर्व', 'द्रौपदी', 'मैन विदाउट शैडो', 'एवम् इन्द्रजित', 'पछी ऐसे आते हैं', 'मिट्टी की गाडी', 'आगरा बाजार', 'चरनदास चोर', 'हयवदन', 'व्यक्तिगत', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'जुलूस', 'वौएज़ैक', 'बेगम का तकिया', और 'छतरियाँ' जैसे प्रयोग मंच के विस्तार और उसकी बहुआयामिता के उदाहरण कहे जा सकते है। परन्तु फिर भी, सिनेमा के देश-काल की सूक्ष्म-अबाध और पूर्णतः स्वच्छन्द गति के मुकाबले रंगमंच अब भी काफी हद तक जड़ और स्थिर ही है। बिम्ब (विजुअल) के विखण्डन की वह सामर्थ्य ही संभवतः सिनेमा की सबसे बड़ी ताकत है। यही कारण है कि कथ्य की दृष्टि से साहित्य का उपयोग करने वाली कलात्मक फिल्में भी नाटक की अपेक्षा उपन्यास और कहानियों को ही अपने अधिक निकट पाती हैं। और नाटकों मे भी केवल **आषाढ़ का एक दिन** ही एक मात्र ऐसी फिल्म है जिसे पूर्णत. नाटक के रूप में ही फिल्माया गया है और मेरे विचार से जिसके (फिल्म फेयर क्रिटिक्स अवार्ड पाने के बावजूद) अप्रदर्शित तथा अरुचिकर होने का यह भी एक निर्णायक कारण है। रंगमंच पर जिन्होंने कभी **आषाढ़ का एक दिन** को देखा है उन्हे तो यह फिल्म, आस्वाद और प्रभाव की दृष्टि से एकदम नीरस, निर्जीव और हास्यास्पद ही प्रतीत होगी। नाटकों पर बनी विश्व की लगभग सभी श्रेष्ठ और सफल फिल्में नाटक के मूल फार्म को तोड़ कर ही बनाई गई है।

आर्थिक दृष्टि से रंगमंच और फिल्म मे एक उल्लेखनीय अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ कोई सूझ-बूझ वाला कल्पनाशील निर्देशक किसी नाटक को दो-तीन सौ से दो-तीन हजार रुपयों के अंदर-अंदर प्रस्तुत कर लेता है वहाँ आजकल अंकुर जैसी न्यूनतम बजट की कला फिल्म भी सोलह लाख से कम मे नही बन पाती। इसलिए कोई भी फिल्मकार किसी भी हालत मे असफल होने का खतरा नही उठा

सकता। यह उसके जीवन-मरण जैसा प्रश्न है। इस संदर्भ मे गिरीश कर्नाड ने पिछले दिनों एक बातचीत के दौरान एक बहुत उत्तेजक और महत्त्वपूर्ण बात यह कही थी कि असफल होने का खतरा उठाना किसी भी रचनात्मक कलाकार का जन्मसिद्ध अधिकार है और फिल्म यह खतरा कभी नही उठा सकती। रंगमंच जहाँ कलाकार को प्रयोग करने और असफल होने का अवसर देता है वहाँ सिनेमा केवल आजमाए हुए कामयाब फार्मूलो का नया इस्तेमाल भर करने की सुविधा देता है। इसीलिए रगमच यदि कलाकार का माध्यम है तो फिल्म व्यवसायी का।

नाम, दाम और ग्लैमर के लिहाज से भी फिल्म और रंगमंच की कोई तुलना सम्भव नही है। यह सिनेमा के अद्भुत सम्मोहन का ही कमाल है कि रगमंच को अपना पहला और आखिरी इश्क मानने-कहने वाले असंख्य कलाकार फिल्मों में जाने के बाद आज रंगमच का नाम तक भूल चुके है।

स्पष्ट है कि व्याकरण, रचना-प्रक्रिया और प्रभाव की दृष्टि से सिनेमा और रगमंच दो अलग-अलग माध्यम है और दोनों की अपनी-अपनी शक्ति और सीमाएँ हैं। अपनी तमाम तकनीकी समृद्धि, लोकप्रियता और व्यापकता के बावजूद सिनेमा रंगमच की त्रिआयामिता, रचनात्मकता और प्रत्यक्ष-जीवन्त अनुभव की तीव्र प्रभविष्णुता को कभी प्राप्त नही कर सकता।

४

फिल्म और रंगमंच—दो

"सुनो, खबर है 'अमुक जी' भी बम्बई चले गए !"

"क्यों ?"

"सुना है, फिल्मों में चांस मिल रहा है।"

"अच्छा !"

यह 'अमुक जी', कोई नाटककार, व्यंग्य लेखक, कथाकार, पत्रकार, गीतकार भी हो सकते हैं और रंगमंच के कोई लोकप्रिय अभिनेता-निर्देशक भी। 'अच्छा' मे आश्चर्य, ईर्ष्या, लालच और भाग्योदय के साथ-साथ व्यंग्य की भावना भी छिपी रहती है। इस घातक प्रवृत्ति(क्योंकि अधिकांश वहाँ असफल होकर कहीं के नही रहते) के विषय में पूछने पर रंगकर्मी सीधा-सा निर्भ्रान्त उत्तर देते है, "रगमच से फिल्मों में अपनी इच्छा से कोई नही जाता। ओम शिवपुरी भीगी हुई पलकों से फिल्मों में गए थे और कारंत से आज भी नाटक का मोह नहीं छूटता। पर, जहां पैसा नही हो, सुविधा नही हो, और तो और, पहचान भी न मिले तो आदमी कब तक रंगकर्म में जुटा रह सकता है ?"[1] और यह प्रश्न सचमुच कोई साधारण प्रश्न नही है। 'जो घर फूंके आपना, सो चले हमारे साथ' की माँग करने वाला रंगमंच, पलभर मे आसमान का जगमगाता सितारा बना देने वाले सिनेमा के सामने आखिर कब तक और कैसे टिका रह सकता है ? इस महत्वपूर्ण/ज्वलंत प्रश्न के सदर्भ मे यहाँ हम हिन्दी रंगमच और सिनेमा के पारस्परिक अन्त सम्बन्धों को एक ऐतिहासिक परिदृश्य मे देखने का प्रयत्न कर रहे है।

मानव जीवन के आरम्भ से ही जो रंगमच मनुष्य के मन की मनोरंजन और

---

१. एम० के० रैना : धर्मयुग : २४ अप्रैल, १९७७ : पृ० ३८

सृजन की कामना-पूर्ति करता आ रहा था, बीसवीं शती के आरंभ में अकस्मात् अवरुद्ध और कुंठित हो गया। सन् १९०३ में न्यूयार्क में प्रदर्शित एडीसन के प्रथम चलचित्र **दि ग्रेट राबरी** ने रंगमंच की सदियों पुरानी समृद्ध परम्परा पर डाका डाला और उसे कंगाल करके छोड़ दिया। १९२८ में 'सवाक्' और १९३० में रंगीन फिल्मों के आगमन ने मनोरंजन के क्षेत्र में सिनेमा का एकाधिकार *स्थापित कर दिया। भारतवर्ष के सन्दर्भ में भी लगभग ऐसा ही हुआ।* १९१२-१३ में मूक (पुण्डलिक तथा राजा हरिश्चन्द्र) और १९३१ में **आलम आरा** सवाक् फिल्मों ने तत्कालीन रंगमंच को करारी चोट पहुंचाई। टक्कर यदि कला और व्यवसाय में होती तो सम्भवतः रंगमंच इस तरह पराजित न होता परन्तु टक्कर व्यवसाय और व्यवसाय के बीच थी, इसलिए बड़े व्यवसाय (सिनेमा) ने छोटे व्यवसाय (रंगमंच) को नष्ट कर दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में सिनेमा के आगमन के समय तत्कालीन ह्रासोन्मुख भारतीय रंगमंच एक व्यवसाय बन चुका था और पूरी तरह से कुछ पारसी व्यवसायियों के हाथों में था। तत्कालीन अंग्रेजी नाटक कम्पनियों के भद्दे और भ्रष्ट प्रभाव से उत्पन्न 'अल्फ्रेड' 'न्यूअल्फ्रेड', 'विक्टोरिया', 'ओरिजनल', 'कारोनेशन', 'करेंथियन' आदि पारसी नाटक कम्पनियां नाटक और मनोरंजन के नाम पर अतिशय भावुकता और झूठा आवेश बेच रही थी। पौराणिक ऐतिहासिक युद्ध कथाएं, भावुकतामय प्रेमकहानियाँ, अतिरंजन-पूर्ण अभिनय, नृत्य, गीत, संगीत, आकर्षक भड़कीले रंग-बिरंगे वस्त्र और सीन-सीनरी एवं हँसी-मजाक—कुछ ऐसे तत्व थे जिन्होंने पारसी रंगमंच को अत्यधिक लोकप्रिय बनाया था। हबीब तनवीर के शब्दों में, "इसमें हिन्दुस्तानी स्वभाव और हर सतह के लोगों की रुचि का ध्यान रखा गया था।"[1] श्वेत श्याम मूक सिनेमा के सामने इसका पराजित होना असम्भव था क्योंकि रंगमंच दृश्य के साथ-साथ दर्शक की श्रव्य कामना की पूर्ति भी करता था। इसलिए आरम्भ में तो यह रंगमंच मूक सिनेमा से सफलतापूर्वक लोहा लेता रहा, परन्तु सन् १९३१ में **आलमआरा** से सवाक् सिनेमा के आगमन और फिर १९३७ में **किसान कन्या** से रंगीन फिल्मों के आविष्कार ने रंगमंच के सभी साधनों को हथियाकर उसे अपंग बना दिया। सिनेमा के नाम, दाम और ग्लैमर ने रंगकर्मियों को अदम्य चुम्बकीय आकर्षण से अपनी ओर खींचा। रंगशालाएं खाली हो गईं और सिनेमा हाल खचाखच भरने लगे। छोटे-बड़े शहरों-कस्बों में सिनेमा शैतान की आँत की तरह फैलता चला गया और मनोरंजन के क्षेत्र में उसने एकाधिकार कर लिया। 'हिन्दुस्तान फिल्म कम्पनी', 'कोहनूर', 'सागर', 'रणजीत', 'प्रभात' 'न्यू थियेटर्स,' 'होमीवाडिया', 'इंपीरियल- फिल्म कम्पनी,' 'रूबी पिक्चर्स,' 'सागर फिल्म', 'बाम्बे टाकीज'

---

१. नटरंग - वर्ष ३, अंक ९, पृ० ११.

आदि तत्कालीन फिल्म संस्थाओं ने एक ओर यदि पौराणिक धर्म-प्रधान चित्रों का निर्माण किया तो दूसरी ओर सामाजिक समस्या-प्रधान फिल्में भी बनायीं। १९३६ मे वेनिस फिल्म समारोह में **संत तुकाराम** का पुरस्कृत होना अपने आप एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतीय फिल्म उद्योग के इस प्रथम दौर को यदि शान्ताराम, विमलराय, चेतन आनन्द, राजकपूर और गुरुदत्त के आरम्भिक दौर से जोड़ दिया जाये तो मानना पडता है कि अनेक पारसी नाटको जैसी फूहड़ और अकलात्मक फिल्मों के साथ-साथ इस युग मे कई अमर चिरस्मरणीय, श्रेष्ठ फिल्मों का निर्माण भी हुआ। इस युग मे सिनेमा ने पारसी रंगमच के लोकप्रिय तत्वों का भरपूर उपयोग भी किया और उनसे ऊपर उठ कर इस नई विधा को अधिक सार्थक, ध्येयपूर्ण, यथार्थवादी और प्राणवान बनाने का साहसपूर्ण जोखिम भी उठाया। इसलिए इस बीच प्रसाद, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, अश्क जैसे नाटककारों की सतत साधना से नाट्यलेखन तो चलता रहा परन्तु साहसी रगकर्मियो के अभाव मे वह रंगमंच से कटकर निरन्तर सुपाठ्य और अधिकाधिक साहित्य होता चला गया।

इस शती के तीसरे दशक मे जब भारत में रेडियो का आगमन हुआ, तो लगा शायद इससे फिल्मों की लोकप्रियता में कुछ अन्तर पड़े, परन्तु ये 'अधा रगमंच' प्रेक्षक की प्रत्यक्ष अभिनय-दर्शन की भूख को शान्त करने मे असमर्थ रहा। सिनेमा के मुकाबले ये प्रतिभाओं को भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाया। अत्यधिक लोकप्रिय होने के बावजूद रेडियो सिनेमा के रास्ते से हट गया और धीरे-धीरे फिल्मी गाने, हल्के-फुलके प्रहसन, समाचार, वार्ताएं, शास्त्रीय सगीत, देश प्रेम के समूह गान तथा सरकारी नीतियों के विज्ञापन तक सीमित हो गया।

स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद से भारतीय फिल्म उद्योग का वह दौर आरम्भ होता है, जो फिल्मों के परिमाण, तकनीकी विकास और अपने रंग-वैभव के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट तथा साहित्यिकता, जीवन्तता एवं गुणवत्ता की दृष्टि से अत्यंत निकृष्ट माना जायेगा। आने वाले समय में फिल्मों का इतिहासकार इसे 'अंधकार-मय युग' के रूप में याद करेगा। इस युग के आरम्भ मे वड़े-बडे समर्पित रंगकर्मी, निर्देशक, संगीतज्ञ, गायक, आकर्षक व्यक्तित्व, फोटोग्राफर और पूंजीपति इस उद्योग से सम्बद्ध होकर अपने को धन्य समझने लगे। 'पृथ्वी थियेटर' और 'इप्टा' के ढेरों कलाकार रोजी-रोटी के लिए 'एक्स्ट्रा' बनने पर मजबूर हुए। सौन्दर्य के नाम पर कामुकता और प्रकृति के नाम पर विकृति का प्रचार हुआ। झूठे अतार्किक प्रेम-त्रिकोण, काल्पनिक सामाजिक समस्याए और उनके अयथार्थवादी हल, सर्वगुण सम्पन्न अवास्तविक नायक-नायिका, अप्रासंगिक भद्दे नाच-गाने, जीवन मे कटी हुई पलायनवादी स्थितियाँ और बार-बार आजमाए हुए कामयाब स्टंट फार्मूलेवाली बेहूदी फिल्मो की बाढ़ मे दर्शक आकण्ठ डूब गया। हाँ, इस दौर मे भी, अपवाद-स्वरूप ही सही, कुछ ऐसे

निर्माता-निर्देशक अवश्य सक्रिय रहे जिन्होंने व्यावसायिकता के बावजूद कला का दामन नहीं छोड़ा और कुछ अच्छी कृतियां देते रहे। बीच-बीच में शरत् या प्रेमचन्द की प्रसिद्ध रचनाओं पर भी फिल्में बनती रहीं, परन्तु मुख्य धारा घटिया फिल्मों की ही रही।

सिनेमा ने आरम्भ से ही विज्ञान के आविष्कारों से लाभ उठाया और तकनीकी दृष्टि से अद्भुत प्रगति की, जब कि रंगमंच विद्युत-प्रकाश के अतिरिक्त किसी भी वैज्ञानिक यंत्र को (यहां तक कि माइक को भी) आत्मसात् नहीं कर सका। सिनेमा के संवेदनशील सूक्ष्म-माइक, अद्भुत क्षमतावान कैमरे जादुई लैंसों तथा तकनीकी कुशलता ने मनोरंजन के क्षेत्र में अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को सिर उठाने से पहले ही कुचल दिया। 'क्लोज़ अप' की टक्कर की कोई चीज़ रंगमंच आविष्कृत नहीं कर सका। इस बीच हिन्दी साहित्य लगातार उन्नति करता रहा और आधुनिक चेतना को जीवन्त अभिव्यक्ति देता रहा। मगर फिल्म उद्योग ने न तो इस साहित्य से कोई वास्ता रखा और न जीवन की नब्ज़ पकड़ने की कोशिश की।

छठे दशक के आरम्भ में एक नये रंग आन्दोलन की शुरुआत हुई। इससे सिनेमा के काल्पनिक और फूहड़ संसार के स्थान पर वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले, मानव-अस्तित्व के सूक्ष्म, गहन और मूलभूत प्रश्नों से गम्भीर साक्षात्कार कराने वाले, जीवन्त नाटकीय अनुभव और आधुनिक संवेदना को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने वाले अव्यावसायिक नाट्य-प्रदर्शनों का दौर शुरू हुआ। वक्त के बदलते मिजाज और संश्लिष्ट-जटिल नये सामाजिक संबंधों को इस रंग-आन्दोलन ने सार्थक अभिव्यक्ति दी। निष्ठावान, समर्पित, कुशल रंगकर्मियों ने अपने निस्वार्थ सतत प्रयासों से सुरुचि-सम्पन्न जागरूक प्रेक्षक वर्ग का निर्माण किया। जन-चेतना में एक हलचल-सी महसूस होने लगी।

थियेटर यूनिट, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, अभियान, दिशान्तर, नया थियेटर, यात्रिक, दर्पण, अनामिका जैसे निष्ठावान नाट्य दल, इब्राहीम अलकाज़ी, सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, हबीब तनवीर, कारन्त, राजिन्दर नाथ, ओम शिवपुरी, और मोहन महर्षि जैसे कल्पनाशील निर्देशक, विजय तेंदुलकर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, गिरीश कर्नाड, आद्य रंगाचार्य और बादल सरकार जैसे जीवन्त नाटककार एक साथ उभरे और छा गये। अंधायुग, कोणार्क, एवं इन्द्रजित, बाकी इतिहास, पगला घोड़ा, तुगलक, सखाराम बाइंडर, खामोश! अदालत जारी है, सुनो जनमेजय, आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे, आगरा बाज़ार, हत्या एक आकार की, शुतुरमुर्ग, स्टील फ्रेम, किसी एक फूल का नाम लो, पंछी ऐसे आते हैं, द्रौपदी, कफ्यू, मिस्टर अभिमन्यु, हयवदन, एक सत्य हरिश्चन्द्र, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, चरनदास चोर, आठवाँ

सर्ग, आदि कुछ ऐसे नाटक है जिन्होने भाषा और प्रदेश की सीमाएं तोडकर नाट्य-प्रदर्शनो के नये कीतिमान स्थापित किये। इस दौर में भारतीय रंगमंच ने 'अपने व्यक्तित्व की पहचान, पारम्परिक नाट्यदाय का अन्वेषण और एक नयी, अधिक मौजिक और प्रामाणिक नाट्य शैली की खोज'[1] की। महानगरो की देखा-देखी छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में भी कई नाट्य-दल उभरे और उन्होंने प्रयोगधर्मी नये नाटकों के सफल प्रदर्शन किए। व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं तक में इनके समाचार, चित्र और समीक्षाए छपने लगी। चर्चाएं और गोष्ठियां होने लगीं। रगकर्मी पुरस्कृत हुए और सम्मान की दृष्टि से देखे जाने लगे। सांस्कृतिक वातावरण चारों ओर सुगंध की तरह बिखर गया।

इसी काल खण्ड में रेडियो ने भी कुछ श्रेष्ठ नाटकों का प्रसारण कर इस सास्कृतिक वातावरण को समृद्ध बनाने मे सहयोग दिया। स्तरीय चर्चित रंगमंचीय नाटकों के रेडियो रूपान्तरों के अतिरिक्त 'नाट्य वेला' के अन्तर्गत प्रसारित असम मेल, खुदकुशी, चौथा ब्राह्मण, उसके बाद, शून्य का आकार, सुनहरी मछलियाँ, संतोला : एक छिपकिली, सेतुबंध, एक मैला आदमी, दो टुकड़े सत्य, बर्फ टूटता हुआ, हत्या, लाई हरोबा, तलघर, दो सूर्यदग्ध फूल, एक गीत की मौत, रात बीतती है, चार दिन, आपका बंटी, एक और अजनबी, बादलों के घेरे इत्यादि गत वर्षों के उल्लेखनीय रेडियो नाटक रहे है।

इस नये रंग-आन्दोलन के साथ ही दिल्ली में १५ सितम्बर, १९५७ से मनोरजन के क्षेत्र मे टी० वी० नामक एक अन्य जन–माध्यम (?) की शुरुआत हुई। विदेशो में इसे 'सुस्त आदमी का घरेलू सिनेमा या रगमच' कहा जाता है। यह स्पष्टतः सिनेमा और रंगमंच का प्रतियोगी माध्यम है। परन्तु विदेशों की तरह, भारतवर्ष में इसका कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। इसके कई कारण हैं। एक तो भारत एक गरीब देश है, (जहाँ प्रति व्यक्ति औसत छः सौ रुपये वार्षिक के लगभग है) अत. यहाँ ढाई-तीन हजार रुपये का टी० वी० सैट कितने लोग खरीद सकते है ? दूसरे विकास के नाम पर यह अंगद का पाँव बना रहा। इसके अतिरिक्त, ऊंची लागत वाली मनोरंजक रंगीन फिल्मों और जीवन से जुड़े गम्भीर रंगमंच के मुकाबले सरकारी सरक्षण में सादे टी० वी० के उबाऊ और नीरस कार्यक्रम लोकप्रिय नही हो पाये। यद्यपि 'स्टेटस सिम्बल' बन जाने के कारण तथा कुछ पुरानी फिल्मों और रंगमंचीय नाटकों के प्रदर्शन के कारण एक वर्ग में टी० वी० इधर काफी लोकप्रिय हो रहा है, फिर भी रंगमंच या सिनेमा पर इसके विपरीत प्रभाव की कोई सम्भावना फिलहाल दिखाई नहीं देती। सम्पूर्ण देश के सन्दर्भ में तो अभी टी० वी० की चर्चा करना और भी निरर्थक है।

उधर १९६८ मे अरुण कौल और मृणाल सेन ने 'नव-सिनेमा आन्दोलन

---

१. आज के रग नाटक : पृ० २९

का नारा लगाया जिसके परिणामस्वरूप फिलमकारों का एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जिसने व्यावसायिक अकलात्मक सिनेमा के समानान्तर एक साहित्यिक और कलात्मक सिनेमा-आंदोलन की शुरुआत की। फिल्म वित्त निगम की सहायता ने इन कलाकारो को प्रोत्साहित किया। **भुवन सोम** की सफलता और प्रसिद्धि ने इनके इरादों को मजबूत किया। इन नये फिल्मकारों ने इस माध्यम को समसामयिक जीवन और आधुनिक साहित्य से जोडने का प्रयास किया। नयी तकनीक, अछूती कथाए, सटीक शैली और फिल्म की नवीन बिम्बात्मक भाषा ने सारा आकाश, उसकी रोटी, आषाढ़ का एक दिन, बदनाम बस्ती, फिर भी, आधे-अधूरे (अपूर्ण), माया दर्पण, आक्रान्त, दस्तक, फागुन, एक अधूरी कहानी तथा खामोशी, सफर, आनन्द, गुड्डी, आशीर्वाद, उपहार, परिचय, कोशिश अनुभव, आविष्कार, गर्म हवा, दुविधा, रजनीगंधा, सत्ताइस डाउन, अंकुर, आँधी मौसम, कादम्बरी, डाक बंगला, मथन स्वामी, भूमिका, शतरज के खिलाड़ी, घरौंदा, जैसी फिल्म कृतियों को जन्म दिया। चानी, तीसरा पत्थर, डाकू, डागदर, बाबू, आनन्द महल, मीराबाई, एक था चन्दर एक थी सुधा, त्यागपत्र, गोधूलि, कफन, जैसी अनेक फिल्में बन गई हैं या बन रही हैं। पूना फिल्म इन्स्टीट्यूट से निकले कलाकारों ने फिल्म उद्योग का चेहरा ही बदल दिया है। प्रतिभावान साहित्यकार, निर्देशक, रंगकर्मी कलाकार, गायक, गीतकार इस व्यापक जन माध्यम से जुड़ रहे हैं। हमारी फिल्मों की यह उन्नति-समृद्धि हमारे लिए गौरव का विषय है।

यहाँ एक स्वाभाविक और सार्थक प्रश्न यह उठता है कि अपनी मूल प्रकृति में रंगमच से अभिन्न होने पर भी सिनेमा सदैव नाटक से दूर क्यों रहा ? साहित्य के निकट जाने पर उसने केवल कथा-साहित्य को ही क्यों अपनाया ? (घरौंदा जैसे दो-एक अपवादो को जाने दीजिए। 'आधे-अधूरे' अधूरी रह गई, 'आषाढ का एक दिन' प्रदर्शित नही हो पाई और 'आनन्द महल' अभी बन रही है।) इस अद्भुत 'क्यों' का उत्तर तकनीक और माध्यम से संबधित है। सिनेमा ने अपने आरम्भिक काल मे ही 'विजुअल' का विखंडन करके अपने माध्यम को अनन्त विस्तार और अबाध स्वातंत्र्य दे दिया था, जब कि नाटक के लिए दृश्य-बंध (और बहुत हद तक संकलन-त्रय) की सीमाओं को तोडना लगभग असम्भव था; और है। कथा-साहित्य मे नाटक की भाति मंच या दृश्य-बंध का कोई बंधन नही होता। यही कारण है कि सिनेमा जीवन के विभिन्न पहलुओं को सूक्ष्मतम विवरणों और पल-पल परिवर्तित रंग-रूपों के साथ सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाले कथा-साहित्य के अधिक निकट पड़ता है।

सिनेमा के बढते साम्राज्य को देखते हुए लगता है कि यही वह समय है जब हमें रंगमंच के अस्तित्व और भविष्य के विषय में अन्तिम रूप से कुछ फैसला कर लेना चाहिए, क्या इतिहास फिर से अपने को दोहराएगा और ये नयी कला फिल्में

फिर से रंगमच को परास्त कर देगीं ? क्या उत्पल दत्त, ओम शिवपुरी, दिनेश ठाकुर, एम० के० रैना, ओम पुरी, संजीव कुमार, सत्येन कप्पू, ए० के० हंगल, अमरीश पुरी, डा० लागू, सत्यदेव दुबे, अमोल पालेकर, गिरीश कर्नाड, ब० ब० कारत, नसीरुद्दीन शाह, टी० पी० जैन, कीमती आनंद, शाम अरोड़ा, कुलभूषण खरबंदा, वी० एम० शाह, राज बब्बर, राजेश विवेक तथा सुलभा देशपाडे, सुधा शिवपुरी, उर्मिला भट्ट, दीना पाठक, आभा धूलिया जैसे कलाकारों का रगमंच छोडकर फिल्मों की ओर प्रस्थान रंगमच के लिए किसी भावी संकट की पूर्व सूचना नही है ?[1] बुद्धिजीवियों और रंगकर्मियों को अब साफ तौर से यह तय करना होगा कि क्या रंगमंच का कोई ऐसा स्वरूप भी हो सकता है जिसमें रंगमंच कला-फिल्मों के इस आक्रमण से अपने को बचाए रख सके और सिनेमा उसकी उपलब्धियों का उद्योगीकरण करके उसका शोषण न कर सके ?

गत पांच-सात वर्षों में सामान्यतः जो नाटक लिखे और खेले गये है, उनसे एक बात बिल्कुल साफ हो गई है कि रगशाला को अन्तिम सीट तक भरने वाली व्यावसायिक बुद्धि ने रंगकर्मी को हल्के मनोरंजन, स्पैक्टकल और नग्न-काम प्रदर्शन की ओर प्रेरित किया है। सैक्स के मामले में व्यावसायिक सस्ती फिल्मों की तरह प्रेक्षक के निम्न काम-वृत्तियो को उथले स्तर से उत्तेजित करके रगमंच अधिक समय तक जीवित नही रह सकता। पश्चिम की नकल पर काम विकृतियों का प्रदर्शन आधुनिकता नहीं है। वर्तमान दिशा में थोड़ा और आगे बढ़ते ही पीछे लौटने का रास्ता कठिनतर हो जायेगा और हम वर्षों तक पश्चिमी ऊल-जलूल, नग्न और क्रुद्ध रंगमंच के पीछे-पीछे अंध-दौड़ लगाने के लिए विवश हो जायेंगे। इसलिए अपनी मिट्टी की पहचान और उसे उर्वरा बना कर उपयुक्त पौध की तैयारी का यही वक्त है। हमारा आधुनिक रंगमच हयवदन की तरह पुरानी लोक नाट्य रूढियों का उपयोग करता हुआ आगे बढ़े, अंधायुग जैसे पद्य नाटको का मार्ग अपनाए, डा० लाल की तरह जीवन के यथार्थ को मिथक, प्रतीक और काव्य की उगलियों से पकड़े या स्वर्गीय मोहन राकेश की *काव्यात्मक यथार्थवादी जीवन्त परम्परा को आगे बढ़ाए*—*कामना* यही है कि वह जीवित रहे, समृद्ध हो और सिनेमा, टी० वी० या रेडियो का प्रतिस्पर्धी न बने। उसे स्वीकार करना चाहिए कि वह गहन, गम्भीर, मूल्यवान, प्रयोग-धर्मी और सार्थक जन-माध्यम के रूप में ही अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है; सस्ते मनोरंजन का साधन बन कर वह जीवित नही रह पायेगा।

---

१. यूं तो इनमे से ज्यादातर कलाकार दो-एक फिल्मों के बाद रगमच पर वापस लौट आए हैं या लौटने की तैयारी मे है, परन्तु उनके मन और सपने वास्तव में वही उलझे हैं।

आम आदमी का नाटक और समांतर रंगमंच

तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने में विकास को एक दिशा है, परन्तु उससे हटकर एक दूसरी दिशा है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है। वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानव-पक्ष को समृद्ध बनाने की है—अर्थात् न्यून-तम उपकरणों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की।

☐ मोहन राकेश

५

आम आदमी का नाटक और समांतर रंगमंच

[एशियन थियेटर सेमिनार के दौरान बम्बई में अपने अभिन्न हृदय मित्र कमलेश्वर से राकेश ने कहा था, "थर्ड वर्ल्ड को लेकर हम कुछ करना चाहते हैं—रंगमच के सर्वांगीण सर्वव्यापी नजरिये से 'तीसरी दुनिया' पश्चिम के बंधे-बंधाये रगमंच से कही ज्यादा कलामय और विकसित है : कोई वजह नही कि इस तथ्य को कॉम्प्लेक्स-जनित अक्षमता के कारण या मात्र शराफत में न कहा जाये। तो बोल—अपना साहित्य और अपना रंगमच अली-अली किया जाये।" राकेश और कमलेश्वर के बीच यह सकल्प-अनुबन्ध २६-११-७२ को हुआ और ६-१२-७२ को राकेश नही रहे। फिर भी, इस बीच बिना किसी आन्दोलन, नाम या शोर-शराबे के सरकारी अनुदानाश्रित, संश्लिष्ट और विशिष्ट रंगमंच के समान्तर चुपचाप अनेक ऐसे रंग प्रयोग होते रहे हैं जिसे हम चाहे तो हिन्दी का समान्तर रंगमंच कह सकते हैं।]

आज जबकि प्रत्येक व्यक्ति 'आम आदमी' का हिमायती, सहयोगी (भोगी ?) और ठेकेदार बना हुआ है मैं उसकी परिभाषा, व्याख्या और पहचान को लेकर किसी सूक्ष्म, अतहीन और निरर्थक बहस में नहीं पड़ना चाहता। मोटे तौर पर मेरे लिए आम आदमी के नाटक और रंगमंच का अर्थ आम आदमी की जिन्दगी और नियति से प्रत्यक्षत: जुड़े उस व्यापक और बहुआयामी रंगकार्य से है जिसे न्यूनतम साधनों-सुविधाओ और उपकरणों के माध्यम से प्रशिक्षित-अप्रशिक्षित, व्यावसायिक-अव्यावसायिक, प्रतिबद्ध-अप्रतिबद्ध, लोक या नागर कलाकारो द्वारा आम आदमी के बीच कहीं भी और किसी भी रूप से प्रस्तुत किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमे जन-नाट्य-सघ (इप्टा) का महत्त्व और योगदान संभवतः सर्वाधिक उल्लेखनीय और प्रशंसनीय है। परन्तु मैं इस लेख मे सन् १९६० के आसपास आरम्भ होने वाले उस व्यापक रंगमंच के आन्दोलन के संदर्भ

में उस गरीब और ग्लैमरहीन रंग-कार्य की चर्चा कर रहा हूँ जिसे इस प्रयोग-बहुल, संश्लिष्ट और आभिजात्य रंग-आन्दोलन की बहुचर्चित विशिष्ट उपलब्धियों की चकाचौंध मे अलग से रेखाकित नही किया जा सका।

हमारे महानगरों में, आधुनिक तकनीक और वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त समृद्ध और संश्लिष्ट रगमंच का विकास आर्थिक एव वैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न तथा विकसित पश्चिमी देशो के प्रभाव के कारण हुआ। इस विकास की चरम उपलब्धि राष्ट्रीय-नाट्य विद्यालय के **दाँतों की मौत** जैसे कल्पनार्नीत, महँगे, भव्य और विराट प्रदर्शनो (स्पैक्टेकल्स) के रूप में हुई। परन्तु धीरे-धीरे यह बात साफ तौर से महसूस की जाने लगी की भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से गरीब परन्तु सास्कृतिक दृष्टि में सपन्न देश में रगमच के विकास का यही एक मात्र और सही रास्ता नही हो सकता। सम्मोहक काल्पनिक कथाओं, रग-वैभव और उन्नत तकनीक समृद्ध व्यावसायिक फिल्मों की अभूतपूर्व लोकप्रियता ने भी रगकर्मियों को भारत मे रगमंच के भविष्य को लेकर चिन्तित कर दिया। परिणामस्वरूप कुछ प्रतिभाशाली और कल्पनाशील रंगकर्मियों ने इस समस्या को अत्यन्त गम्भीर और चुनौतीपूर्ण ढंग से स्वीकार किया और पाया कि—"अपने रंगशिल्प पर बाहरी दृष्टि से विचार करने के कारण ही हम अपने को न्यूनतम उपकरणों की अपेक्षा से बँधा हुआ महसूस करते है और यह अपेक्षा तकनीकी विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और हम अपने को एक ऐसी बंद गली मे रुके हुए पा रहे हैं जिसके सामने की दीवार को इस या उस ओर से बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता पाकर ही तोड़ा जा सकता है। परन्तु मुझे लगता है कि हम इस बंद गली में इसलिए पहुच गए हैं कि हमने दूसरी किसी गली मे मुडने की बात सोची ही नहीं—किसी ऐसी गली में जो उतनी हमवार न होते हुए भी कम से कम आगे बढ़ते रहने का मार्ग तो दिए रहती।" तकनीकी दृष्टि से विकसित, समृद्ध और सश्लिष्ट रंगमंच से अलग हटकर भारतीय रंग-प्रयोगो की संभावनाओं की नई दिशा का यह सकेत मोहन राकेश ने १९६८ में दिया था। १९७१-७२ में नेहरू फैलोशिप के शोध-कार्य के दौरान वह 'प्रतीकात्मकता और सादगी' को रंगमंच का मूल तर्क मानने लगे थे। उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया कि, "शब्द, अभिनेता और इन दोनों का सयोजन करने वाले निर्देशक के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नही है जो नाटकीय रंगमच की अनिवार्य शर्त हो।" और रंगमच के इस महत्वपूर्ण आयाम का नाटकीय उद्घाटन शिमला रंगशिविर (वर्कशाप) के अन्तर्गत प्रस्तुत उनके पार्श्व नाटक **मड डिलाइट अथवा छतरियाँ** की विविध प्रस्तुतियों से हुआ जिसमें उन्होंने भाषा के विखण्डन द्वारा पार्श्व ध्वनियों के विविध सयोजनों और मचीय मुद्राओं-क्रियाओं के विविध रंगयोगों से दर्शक के मन में विश्लेषणातीत अर्थों की अनुगूंजें उत्पन्न करने का प्रयास किया।

पश्चिम से प्रभावित तकनीक-समृद्ध, महानगरीय आभिजात्य रंगमच से हट-कर आधुनिक सदर्भ मे भारतीय रगमच की वैभवपूर्ण एवं समृद्ध-सुदीर्घ परन्तु लुप्तप्राय परम्परा को तलाशने के प्रयास में रगकर्मियों के एक वर्ग ने अपनी लोकधर्मी नाट्य परम्परा के उपयोग पर बल दिया तो दूसरे वर्ग ने परम्परित शास्त्रीय रग-तत्त्वों के आधुनिक प्रयोग पर। हबीब तनवीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "पश्चिमी देशों से उधार लिए गये नगरीय थियेटर के रूप मे समसामयिक भारत के आधारभूत सिद्धान्त, सास्कृतिक प्रारूप, जन-जीवन की गतिविधि और सामाजिक विचारधारा को प्रभावकारी ढग से व्यक्त करने में नितान्त अपर्याप्त है। भारतीय संस्कृति के वास्तविक रूप के बहुपक्ष गाँव मे ही देखे जा सकते है। आज भी, हम भारत की ड्रामा परंपरा की प्राचीन आभा तथा ओजस्विता को गावों मे सुरक्षित पाते है। वस्तुतः यह ग्रामीण ड्रामा दल ही है जिन्हे प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।" और हबीब तनवीर ने सचमुच उन लोक कलाकारो को उनकी भाषा, कथा, तकनीक और अभिनय गायन पद्धति के साथ शहरी प्रेक्षकों के सामने ला खड़ा किया। छत्तीसगढी नाचा और राजस्थानी ख्याल के फार्म मे **गांव का नाम ससुराल, मेरा नाम दामाद, ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह** तथा **बहादुर करालिन** जैसे नाटकों ने अपनी मिट्टी की गध, ऊर्जा और सहजता के कारण यहा के दर्शकों को प्रभावित किया। इन नाटकों की उपलब्धि **चरनदास चोर** के रूप में देखी जा सकती है। दूसरी ओर हबीब तनवीर ने नाटक की सामाजिक-राजनीतिक चेतना से प्रत्यक्षतः जोड़ने और जन सामान्य के बीच ले जाने का महत्वपूर्ण प्रयास भी किया। **सूत्रधार-६१** (और ७७) तथा **इन्दर सभा** इसके प्रमाण है। परन्तु धीरे-धीरे इन नाटको के प्रति नयेपन का आकर्षण कम होता जा रहा है और सम्प्रेषणीयता तथा लोकप्रियता की दृष्टि से इधर **जसमा ओडन, लैला मजनू** तथा **हो होलिका** जैसे उन लोक-नाटको का प्रभाव बढ़ रहा है जिन्हें प्रशिक्षित शहरी कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

इसी रंग-प्रयोग का एक दूसरा आयाम है शास्त्रीय रग-तत्त्वों का आधुनिक नाटकों में प्रयोग तथा प्रशिक्षित शहरी कलाकारों द्वारा उनका प्रस्तुतीकरण। इस परम्परा की शुरुआत जगदीशचन्द्र माथुर के **कोणार्क** तथा धर्मवीर भारती के **अधायुग** से होती हुई लक्ष्मी नारायण लाल के **सगुनपंछी, एक सत्य हरिश्चन्द्र, गंगामाटी,** मणि मधुकर के नाटक **पोलमपुर का, दुलारी बाई, बुलबुल सराय** तथा बलराज पंडित के **लोग उदासी** तक चली आती है। परन्तु अपनी तमाम विशेषताओं और महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका के बावजूद इस वर्ग के अधिकाश नाटक विभिन्न रंग तत्त्वों के 'गेस्टाल्ट' से उद्भूत होने वाली किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का सकेत नही दे सके। विशिष्ट दर्शक वर्ग के इन नाटको से थोडा अलग हटकर सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के

बकरी जैसे उन शहरी नाटकों का स्थान है जो जन-सामान्य की समस्याओं को आडम्बरहीन पद्धति से बोलचाल की भाषा और लोक शैली में शहरी कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। अपने सीधे, व्यापक और तात्कालिक तीव्र प्रभाव के बावजूद ये नाटक कलात्मक और साहित्यिकता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होते और सामयिक समस्याओं पर आधारित होने के कारण प्रायः अल्पजीवी होते हैं। वैसे भी, हिन्दी में अभी इस दिशा में विशेष प्रयोग नहीं हुए हैं और एकाध रचना के आधार पर कोई निर्णय लेना शायद सही नहीं होगा। मनोरंजन तथा सामान्य जन के नाटक के नाम पर हमारे यहां जैसा फूहड़ और घटिया रंगकार्य होता रहा है और हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है और दूसरी ओर बौद्धिकता और प्रयोग के नाम पर जो नाटक हुआ है वह भी सर्वविदित है। फिर भी, तथाकथित आभिजात्य और पढ़े-लिखे संस्कारी दर्शक-पाठक से अलग हटकर आम आदमी के लिए आम आदमी का नाटक पेश करने की दिशा में ईमानदारी से हिन्दी में जो कुछ हुआ है उसमें मुद्राराक्षस का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार "लोगों की ऐसी राय है कि आम आदमी के लिए घटिया शिल्प और घटिया सृजनात्मक कथ्य की जरूरत होती है। जनसाधारण अशिक्षित है इसलिए उन्हें अच्छा नाटक नहीं सस्ते हास्य से मिलता-जुलता अतिनाटकीय भोंड़ा नाटक ही देना होगा। यह गलत है। यह आम तौर पर उन लोगों की नासमझी है जो नये सृजनात्मक परिवर्तनों से स्वयं पीछे छूट जाते हैं। स्कूल की शिक्षा समाज की सांस्कृतिक अभिरुचि से जुड़ी नहीं होती। अगर ऐसा होता तो डी० लिट्० करने वाला व्यक्ति सबसे अच्छा कृतिकार हो जाता। जन-साधारण न तो सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है और न नये सृजन के प्रति अंधा। अच्छी नयी सृजनात्मक उपलब्धि को निश्चय ही व्यापक जन-समर्थन मिलता है।" परन्तु यह कैसी विडम्बना है कि आम आदमी की जिन्दगी और नियति से प्रत्यक्षतः जुड़े हुए इस प्रतिबद्ध नाटककार को **मरजीवा**, से लेकर **योर्स फेथफुली**, **तिलचट्टा** और **तेंदुआ** तक वह व्यापक जन-समर्थन प्राप्त नहीं हो सका, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। मेरे विचार से इसका मूल कारण सम्भवतः यह है कि इन नाटकों में आम आदमी के जीवन की त्रासदी को जिन प्रतीकों और तकनीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है वह बहुत उलझी हुई और दुरूह है। सैक्स की अतिशयता भी मूल कथ्य पर हावी होकर सम्प्रेष्य प्रभाव को क्षीण कर देती है। फिर भी, यह बता पाना मेरे लिए नामुमकिन है कि मुद्राराक्षस को उचित प्राप्य उसे आज तक क्यों नहीं मिला? बी० एम० शाह का **त्रिशंकु**, रमेश उपाध्याय का **पेपर वेट**, मणि मधुकर का **रस गंधर्व**, शरद जोशी का **अंधों का हाथी** तथा रामेश्वर प्रेम का **चारपाई**, प्रेमचंद के **गोदान** और **कफन** जैसी रचनाएं भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। १९७३-७४ के आसपास शेखनर के पर्यावरण-

रंगमंच से प्रभावित होकर बंगला के बादल सरकार ने जिस प्रकार रंगमंच को आम आदमी के बीच ले जाने का महत्वपूर्ण प्रयोग किया, ठीक उसी प्रकार 'गरीब रंगमंच' के प्रवर्तक पोलैंड के महान नाटककार ग्रोस्तोस्की से दीक्षित हो कर हिन्दी में विजय सोनी ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की जबर्दस्त कोशिश की। उन्होंने मुक्तिबोध की प्रसिद्ध लम्बी कविता **अंधेरे में** को **आशंका के द्वीप** नाम से जिस शैली में प्रस्तुत किया, वह सचमुच ही हिन्दी रंगमंच के लिए एकदम नयी और अभूतपूर्व थी। एकदम सादे नंगे मंच पर केवल एक प्रकाशवृत्त और सिर्फ काली जांघिया पहने छः अनाम पात्र अपने शरीर की अस्थियों और मांसपेशियों, रूपाकारों और हाव-भावों, मुद्राओं और गतियों तथा कुछ अस्फुट स्वरों द्वारा कविता के निहित अर्थों को विम्बात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देते थे। इस प्रस्तुति ने एक बिलकुल नये प्रकार के नाट्यानुभव से हमारा सामना कराया और आज की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों के क्रूर शिकंजे में फंसे शोषित, पीड़ित, त्रस्त और आतंकित उस आम आदमी की भयावह जिन्दगी और नियति के लिए जिम्मेदार हमारी आदमखोर व्यवस्था तथा स्वयं आम आदमी की अलगाववादी घातक प्रकृति को बेनकाब किया। प्रस्तुतिकरण और अभिनय पद्धति की दृष्टि से भी यह प्रदर्शन विशेष उल्लेखनीय रहा। विजय सोनी मानते है कि, "जब कलाकार अपने को शारीरिक और सांस्कृतिक बाधाओं तथा शिकंजों से मुक्त कर लेता है, तभी वह जीवन्त अभिनय की ओर अग्रसर होता है।" ग्रोस्तोस्की के लिए 'जीवन्त अभिनय' का अर्थ है—जहां अभिनेता के आंतरिक संवेग ही मूर्त हो जाएं—दृश्य बन जाए और देह लुप्तप्राय हो जाए। संवेग और बाहरी प्रतिक्रिया का अंतराल लगभग समाप्त हो जाए। परन्तु विजय सोनी के निर्देशन में 'लकीरें' द्वारा **जानबूल** की प्रस्तुति अभिनेताओं के कठिन शारीरिक अभ्यास, अनुशासन और अभिव्यक्ति-सामर्थ्य का प्रमाण देने के बावजूद समग्र प्रभाव की दृष्टि से बहुत कमजोर रही। आरम्भ में ग्रोस्तोस्की शैली, फिर लोक शैली और बाद में यथार्थवादी शैली के जोड़ बिल्कुल अलग-अलग दिखाई दिए और तब से विजय सोनी खामोश है—शायद अपने मूल कार्य-क्षेत्र चित्रकला—की ओर वापस लौट गये हों!

ठीक इसी समय जून १९७४ में—जबकि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के ख्यातिप्राप्त निर्देशक इब्राहीम अल्काजी सरकारी साधनों-सुविधाओं से पुराना किला में पौराणिक परिवेश के आधुनिक नाटक **अंधायुग** का जापान की काबुकी शैली में भव्य और विराट प्रदर्शन कर रहे थे—दिल्ली के एक प्रतिभाशाली युवा निर्देशक-अभिनेता रवि वासवानी ने इसी नाटक को बिना किसी तामझाम और साधन-सुविधा के प्रस्तुत करके दिल्ली के रंगप्रेमियों को चमत्कृत कर दिया। वासवानी ने पौराणिक पात्रों को केवल काली पैंटों और प्रवृत्तियों की प्रतीक

कुछेक रंगीन पट्टियां पहनाकर **अंधायुग** को आधुनिक युद्ध-चेतना का मुखर एवं स्पष्ट नाटक बनाने का प्रयास किया। यही घटना मौलियर की प्रसिद्ध कामदी **द माइजर** के पूर्व-प्रदर्शित हिन्दी अनुवाद **कंजूस** को **मक्खीचूस** बनाकर उस समय फिर दोहराई गई जब अल्काजी मौलियर को उसी के ऐतिहासिक परिवेश और पात्रों के साथ प्रस्तुत कर रहे थे। मैं यहां अल्काजी और बासवानी के प्रदर्शनों के औचित्य-अनौचित्य अथवा उनकी श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता या सफलता-असफलता की तुलना नहीं कर रहा हूं। फिर भी, बासवानी के इन प्रयोगों से भारतीय या विदेशी के सुप्रसिद्ध, महत्त्वपूर्ण, बड़े और महंगे नाटकों को भारत जैसे गरीब देश में न्यूनतम साधनों के साथ प्रस्तुत करने का एक महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश तो मिलता ही है। विशेषत: **मक्खीचूस** की लोकप्रियता और सफलता इस संदर्भ में काफी आश्वस्त करती है। रवि बासवानी के इस कार्य को किसी भी दृष्टि से उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए।

आम आदमी के नाटक और रंगमंच की तलाश के इन तमाम प्रयोगों के अन्तिम छोर पर है—एम० के० रैना का **जुलूस**। बादल सरकार के नुक्कड़ नाटक **मिछिल** के यामा अग्रवाल द्वारा किये गये इस हिन्दी अनुवाद को दिल्ली में 'प्रयोग' की ओर से प्रस्तुत किया गया। बिना किसी तामझाम, विज्ञापन और शोर-शराबे के। जून, १९७७ को दस-बारह कलाकारों के साथ चुपचाप शुरू होने वाला यह जुलूस दिल्ली के मैदानों, पार्कों, चौराहों, चबूतरों, गली-कूचों और मुहल्लों-कालोनियों से गुजरता हुआ सारी दिल्ली पर छाता जा रहा है। प्राय: बिना किसी पूर्व-सूचना या विज्ञापन के एक नगाड़ा बजने लगता है। पाँच-सात मिनट या दस मिनट तक आस-पड़ोस से गुजरने या वहां रहने वाले लोग इकट्ठा होने लगते हैं और उसी भीड़ में से जुलूस के कलाकार बिना किसी मेकअप अथवा विशिष्ट वस्त्र-विन्यास के अचानक निकलते हैं और नाटक शुरू हो जाता है। आम आदमी का नाटक एकदम आम आदमी के बीच। कलाकारों और दर्शकों के बीच कोई दूरी नहीं, औपचारिकता नहीं, अलगाव नहीं। बचपन में मुन्ना अपने निजी रास्ते की तलाश में उन्हीं-उन्हीं रास्तों के मोड़ों और घुमावों की भूल-भुलैयों के बीच अपने घर का रास्ता भूल गया है और भटकता फिर रहा है। लगता है यह करुण-स्थिति जैसे सिर्फ एक मुन्ने की ही नहीं बल्कि पूरे एक वर्ग, समाज, देश या शायद मानव-जाति की ही है। बीच चौराहे पर खून हो गया है, हो रहा है और जनता खामोश बैठी देख रही है—तरह-तरह के जुलूसों, नारों, वादों और यात्राओं में मोह-मग्न। व्यवस्था का प्रतीक सिपाही आँखें बन्द करके 'सब-ठीक है' की रट लगाए सबको अपने में मस्त रहने का अंधा अनुशासन सिखा रहा है। हत्या, लूट-पाट, अंधकार और अव्यवस्था के बीच शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा का नारा लगा रहा है। चारों ओर जुलूस ही जुलूस है—राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक सवालों को लेकर

आम आदमी के लिए संघर्ष करने वाले जुलूस। मगर सब झूठ है, फरेब है, छलावा है। हर पल सरे आम आम आदमी के वर्तमान और भविष्य की लगातार होती हुई हत्या को यह खूबसूरती से छिपाने का सम्मोहक षड्यंत्र। नाटक दर्शकों से सीधे सम्बोधित हो कर बेलाग सवाल करता है—आखिर कब तक आप इस तरह हत्या का यह नृशंस खेल चुपचाप देखते रहेंगे ? आखिर कब तक ? और क्यों ?

परिक्रमा, त्वरित गतियाँ, बोलती मुद्राएं, वर्तुल संयोजन, चीखते हुए सवाद, उछलते हुए गाने और भजन-कीर्त्तन, हँसती कचोटती पैरोडियाँ—दर्शकों की मंत्र-मुग्ध भीड मे से उठते-बैठते कलाकार। आम आदमी के जीवन और परिवेश के छोटे-छोटे प्रसगों-चित्रो को अतिरजनापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करके यह नाटक उन स्थितियों के भीतर की विडम्बना को हमारे सामने नंगा कर देता है। अभिनय के लिए मानवीय देह का बहुविधि नाटकीय उपयोग करते हुए ये कला-कार हमारे सत्य से हमारा सीधा साक्षात्कार कराके हमे भीतर तक हिला देते है। जुलूस बादल सरकार या अभिनेता-निर्देशक एम० के० रैना का नही आम आदमी के हिन्दी रगमंच का भी एक नया आयाम प्रस्तुत करता है। हाल ही में बादल सरकार के ही स्पार्टकस की रैना के निर्देशन मे 'प्रयोग' की नई प्रस्तुति भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

अब समय आ गया है कि हिन्दी का यह समान्तर रगमच एकजुट होकर आम आदमी के जीवन की त्रासदी को जीवन्त अभिव्यक्ति दे और उसके सपनों तथा भविष्य के लिए सघर्ष के एक तेज हथियार का काम करे।

समकालीन हिन्दी रंगमंच

रंगकर्म मनुष्य को सांस लेने के समान आवश्यक है। वह 'जीवन और मृत्यु का अर्थ खोजने, समाज में मनुष्य की भूमिका पहचानने और व्यक्ति के अन्तरंग मानस संसार की थाह लेने का सामूहिक प्रयत्न है।

☐ इब्राहिम अल्काजी

६

समकालीन हिन्दी रंगमंच—एक

बम्बई मे थियेटर यूनिट और अल्काजी तथा सत्यदेव दुबे, कलकत्ता मे अनामिका और श्यामानन्द जालान तथा प्रतिभा अग्रवाल, दिल्ली में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, थ्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली आर्ट थियेटर तथा अल्काजी, रमेश मेहता और शीला भाटिया इत्यादि के प्रारम्भिक किन्तु गम्भीर प्रयासों के फलस्वरूप जिस आधुनिक-समकालीन हिन्दी रंग-आन्दोलन की जबरदस्त शुरुआत हुई वह कालान्तर मे अन्य अपेक्षाकृत छोटे शहरों और कस्बों तक लगातार फैलता चला गया। वर्तमान स्थिति यह है कि इन महानगरों की अनेक नवोदित रंग सस्थाओं के बहुचर्चित रग-कार्य के अतिरिक्त, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, आगरा, मेरठ, रायबरेली, सीतापुर, गोरखपुर, देहरादून, नैनीताल, पटना, भिलाई, भुवनेश्वर, गोहाटी, भोपाल, रायपुर, ग्वालियर, उज्जैन, इन्दौर, जबलपुर, नागपुर, पूना, जयपुर,जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, अजमेर, चण्डीगढ, पटियाला, कपूरथला, बिलासपुर जैसे छोटे-बडे शहरों की अनेक सक्रिय एवं समर्पित रग-सस्थाओं के उल्लेखनीय रग-प्रयोगो के परिणामस्वरूप हिन्दी रंगमच आज समकालीन जीवन की नाटकीय एवं जीवन्त अभिव्यक्ति का एक सार्थक और महत्त्वपूर्ण कला माध्यम बन गया है। इन नाट्य-दलों द्वारा विदेशी और स्वदेशी नाट्य-साहित्य की अधिकाश उल्लेखनीय कृतियाँ प्रस्तुत की जा चुकी है।

इस संपूर्ण रग-आन्दोलन में दिल्ली के हिन्दी रंगमच की एक निश्चित और महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। देश की राजधानी होने के कारण यहाँ सभी वर्गों, धर्मों, सस्कृतियों, रुचियों और परम्पराओं के लोग रहते हैं। यह सच है कि इसी कारण यहाँ के रंगमच और दर्शक का कोई स्पष्ट चरित्र या गहरा रंग-सस्कार नही है। फिर भी सन् १९६० के आसपास तमाम भारतीय भाषाओं के रंगमच पर जो एक नयी रंग-चेतना तूफान की तरह आई और छा गई, सार्थक

और गम्भीर रंगमच का जो नया आदोलन वगला, मराठी, कन्नड और हिन्दी जैसी भाषाओं में चारों ओर से एक साथ उठा और प्रादेशिक भाषाओं के नाटकों को देखते-देखते राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित और प्रतिष्ठित कर गया—उसमें दिल्ली और उसके हिन्दी रगमंच की निर्णायक भूमिका रही है। नाटक को हल्के मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठाकर जीवन के गम्भीर एवं अपेक्षाकृत बुनियादी सवालों से जुडे जीवन्त माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले तथा पुराने सतही समस्या-नाटकों की खोखली यथार्थवादिता और जीवन की जटिल समस्याओं के सरलीकृत समाधानों से हटकर व्यक्ति-सम्बन्धों के तनाव तथा व्यक्ति और परिवेश के गहरे संघर्ष को पूरी ईमानदारी एवं सच्चाई के साथ आधुनिक रंगमंच के मुहावरे में प्रस्तुत करने वाले अधिकाश महत्त्वपूर्ण नाटक पहले पहल दिल्ली के हिन्दी रंगमच के माध्यम से ही राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित और प्रतिष्ठित हुए ।

राजधानी में यूँ तो लगभग ढाई-तीन सौ नाट्य-दल है किन्तु लगातार अथवा महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ करने वालों में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' और उसका 'रंग-मडल', 'दिल्ली आर्ट थियेटर', 'नया थियेटर', 'हिन्दुस्तानी थियेटर', 'इप्टा', 'इन्द्र-प्रस्थ थियेटर', 'एल० टी० जी०', 'थ्री आर्ट्स', 'दिशान्तर', 'अभियान', 'अग्रदूत और यात्रिक', के साथ-साथ 'सम्वाद', 'मौड्नाइट्स', 'नॉनग्रुप', 'रूचिका', 'जन नाट्य मच', 'चिल्ड्रन्स क्रियेटिव थियेटर', 'नाट्य त्रयी', 'शतरूप', 'सबरग', 'यवनिका', 'दर्पण', 'माध्यम', 'रचना', 'विकल्प', 'आयाम', 'वेक्शियन मिरर', 'विहान', 'रंगिका', 'हमसब', 'अभिकल्प', 'रगकर्मी', 'हम', 'नागरिक', 'आवेश', 'प्रयोग' और श्रीराम कला केन्द्र जैसी संस्थाएँ विशेष उल्लेखनीय है। दिल्ली में सक्रिय निर्देशकों की दृष्टि से सर्वश्री इब्राहीम अल्काजी, राजिन्दरनाथ, ब० व० कारन्त, शीला भाटिया, हबीब तनवीर, ओम शिवपुरी, दीनानाथ, सई परांजपे, टी० पी० जैन, श्याम अरोरा, बैरीजॉन, राम गोपाल बजाज, बी० एम० शाह, बलराज पडित, भानुभारती, डॉ० लाल, रंजीत कपूर, अमाल अल्लाना, रवि बासवानी, एम० के० रैना, अनिल चौधरी, राजेन्द्र गुप्ता, देवेन्द्र राज, सुषमा सेठ, फैजल अल्काजी, अरुण कुकरेजा, सुरेन्द्र वर्मा, विजय सोनी, दीपक केजरीवाल, चमन बग्गा, उत्तरा बावकर, मनोहर सिंह, सुब्बाराव, अजीज कुरैशी मोनू कृष्ण, नादिरा बब्बर, गुलशन कुमार, मनोज भटनागर, शान्ति स्वरूप कालड़ा, कविता नागपाल, ज्योति स्वरूप, जमील अहमद, सतीश कौशिक, रॉबिनदास, पंकज कपूर, राधेश्याम इत्यादि के नाम लिये जा सकते है।[1] इस बीच आधुनिक यथार्थवादी रग-शैली से लेकर सस्कृत की शास्त्रीय नाट्य-शैली, विविध लोक-शैलियों के बहुविध रंग-शिल्प-प्रयोग, जापान की नोह और काबुकी, ब्रेख्त

१. इनमें से दो एक सस्थाएँ इन दिनों 'चुप' हो गई हैं और कुछ निर्देशक दिल्ली छोड़ गए हैं।

की महाकाव्यात्मक एवं अलगाववादी नाट्य-शैली, एब्सर्ड नाट्य-पद्धति, ग्रोतोवस्की की देह-प्रयोग शैली और रिचर्ड शेखनर की पर्यावरण रंग-शैली के साथ-साथ इनके कलात्मक सयोग से उद्भूत प्रयोगात्मक और सांकेतिक अद्भुत मौलिक प्रयोग यहाँ देखने को मिले हैं। केवल **अंधायुग** को ही इब्राहीम अल्काजी ने फिरोजशाह कोटला, तालकटोरा के खण्डहर और पुराने किले में यथार्थवादी महाकव्यात्मक एवं काबुकी शैली मे, रविबासवानी ने ग्रोस्तोस्की (?) से प्रभावित होकर त्रिवेणी में, मोहन महर्षि ने मौरिशस के कलाकारो के साथ गाधी मैरोरियल हाल मे तथा एम० के० रैना ने लोक शैली मे पुराने किले के विराट् मंच पर मौलिक ढंग से प्रदर्शित करके दिल्ली के नाट्य-प्रेमियो को चमत्कृत कर दिया। दिल्ली को भारतीय, हिन्दी अथवा राष्ट्रीय रगमंच (वहस की पर्याप्त सम्भावना के बावजूद) की धुरी मानते हुए यहाँ मैं राजधानी के वहुआयामी रगमंच के विगत तीन-चार वर्षो की गतिविधियों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूँ—

१६७५

दिल्ली मे १६७५ के नाट्य वर्ष की शुरुआत मोहन महर्षि द्वारा निर्देशित और मारीशस के हिन्दी-प्रेमी रंगकर्मियो द्वारा प्रस्तुत धर्मवीर भारती के चुनौतीपूर्ण उत्तेजक पद्य-नाटक **अंधायुग** से हुई। अल्काजी के मुक्ताकाशी मच पर इसके विराट प्रदर्शनों के अभ्यासी दर्शको को इस सीधी-सादी प्रस्तुति ने एक बिल्कुल भिन्न, लेकिन सुखद अनुभव प्रदान किया। सेर्ज कोस्तांत की मच-सज्जा और अजला महर्षि (गाधारी), जगदीश भिखारी (अश्वत्थामा) तथा राजेन्द्र सादासिंह (युयुत्सु) का अभिनय विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा।

नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की रिपर्टरी कम्पनी ने सुरेन्द्र वर्मा का नाटक **सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक** १६७४ के अन्त में प्रस्तुत किया था पर १६७५ मे भी इसके कई प्रदर्शन हुए। भाषा और परिवेश मे **लहरों के राजहंस** तथा निष्कर्ष में **आधे-अधूरे** से प्रभावित होने के वावजूद यह नाटक स्त्री-पुरुष सम्बन्धो को विश्लेषित करने वाले हिन्दी नाटको मे विशिष्ट उल्लेखनीय है। नियोग प्रथा पर आधारित यह नाटक राजा ओक्काक, रानी शीलवती और महामात्य, महाबलाधिकृत एव राज-पुरोहित के माध्यम से एक ओर यदि स्त्री-पुरुष के रिश्ते में उन्मुक्तता की वकालत करता है तो दूसरी ओर शासक और शासन-तंत्र के आतरिक सवध को भी उजागर करता है। रामगोपाल बजाज के प्रभावपूर्ण निर्देशन तथा उत्तरा बावकर, राजेन्द्र गुप्ता, सुरेखा सीकरी और भानु भारती के प्रौढ़ अभिनय के कारण अपने प्रदर्शन मूल्यों मे यह नाटक एक उपलब्धि माना जाना चाहिए।

रिपर्टरी के ही अन्तर्गत देवेन्द्रराज ने निर्मल वर्मा की तीन कहानियों—**धूप का एक टकड़ा**, **डेढ़ इंच ऊपर** और **वीक एण्ड** को **थ्री टॅक्स्ट्स इन सोलीट्यूड**

नाम से सफलतापूर्वक प्रस्तुत करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। इनमें सबा जैदी, राजेश विवेक तथा सुरेखा सीकरी ने अभिनय के नये आयाम प्रस्तुत किये।

रिपर्टरी का एक अन्य प्रस्तुतीकरण **एक और तथागत** (लेखक-निर्देशक : बलराज पंडित) तथा **मेरे होकर** (लेखक : सत्य वंद्योपाध्याय, अनुवाद : बलराज पंडित) नाट्यालेखों की प्राणहीनता के कारण एकदम प्रभावहीन और असफल रहा।

सामयिक तेज विषयवस्तु के बावजूद शिथिल नाट्यालेख और सामान्य प्रस्तुतीकरण के कारण 'शतरूप' द्वारा प्रस्तुत और एस. एस. कालडा द्वारा निर्देशित दयाप्रकाश सिन्हा का पूर्व प्रकाशित और लखनऊ में मंचित नाटक **ओह अमेरिका** भी सफल नहीं हो सका। भारतीयों द्वारा विदेश की नकल पर कठोर व्यंग्य करने वाला यह नाटक मुगलकाल, ब्रिटिशकाल और अमरीकी काल (वर्तमान युग) की तीन सामान्य-सी कहानियों को लेकर लिखा गया एक साधारण-सा व्यंग्य-नाटक है। तीसरे अंक के अतिरिक्त इसमें कुछ भी दर्शनीय नहीं था।

'अग्रदूत' ने दो नाटक प्रस्तुत किये। पहला था पु० ल० देशपांडे के लोकप्रिय मराठी नाटक का वसंत देव द्वारा अनूदित और सई परांजपे द्वारा निर्देशित **बेचारा भगवान**। हास्यव्यंग्य से भरपूर और कुशल रंगकर्मियों द्वारा प्रस्तुत यह नाटक दर्शकों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ सका। इसी संस्था ने अपना दूसरा नाटक प्रस्तुत किया **चल मेरे कद्दू ठुम्मक ठुम**। अच्युत वाजे के मराठी नाटक का हिन्दी अनुवाद किया शंकर शेष ने और इसका निर्देशन किया बम्बई के अभिनेता-निर्देशक अमोल पालेकर ने। अमोल ने अपने प्रस्तुतीकरण में प्रत्येक पात्र को सवादों का एक विशिष्ट लय-विधान प्रदान करके अलग चारित्र्य दिया। नाटक की जटिल संरचना को अपेक्षाकृत अधिक सहज और स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करना निर्देशक की कुशलता थी। अमोल पालेकर, प्राण तलवार, सुदेश स्याल, गणेश सेठ, कुमकुम माथुर और राजेन्द्र कुमार सभी के अभिनय में एक नया निखार देखने को मिला।

'लिटिल थियेटर ग्रुप' ने कृष्ण बलदेव वैद का नाटक *हाय-हाय क्यों?* बलराज पंडित के निर्देशन में प्रस्तुत किया। यह नाटक पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका और बच्चों के पारस्परिक सम्बन्धों की छानबीन करता है, परन्तु इसके सत्य का कोई सीधा रिश्ता हमारे अपने परिवेश और जीवन से न होने के कारण यह नाटक निर्देशक की ईमानदार भरकस कोशिश के बावजूद जम नहीं पाया।

१९७२ में प्रकाशित-प्रदर्शित रमेश बक्षी का नाटक **देवयानी का कहना है**, इधर फिर (नेपथ्य द्वारा) प्रस्तुत किया गया। देवेन्द्र राज के कुशल निर्देशन और सुरेखा सीकरी (देवयानी) तथा राजेन्द्र गुप्ता (साधन) के सधे अभिनय ने इस शब्दाडम्बरपूर्ण किन्तु आक्रामक नाटक को दर्शनीय बना दिया।

घासीराम कोतवाल की व्यापक और आशातीत सफलता से प्रभावित होकर संस्था 'अभियान' और निर्देशक राजिन्दर नाथ ने मार्च १९७५ में मणि मधुकर के राजस्थानी लोककथा पर आधारित संगीत नाटक (जो स्वयं घासीराम की लोकप्रियता और सफलता से आतंकित प्रतीत होता है) **छत्रभंग को नाटक पोलमपुर का** नाम से प्रस्तुत किया। युगानुकूल, महत्त्वपूर्ण कथ्य और उद्देश्य को नाटक मे पिरोया नही जा सका और परिणामस्वरूप यह नाटक कलात्मकता और लोकप्रियता दोनो दृष्टियो से बुरी तरह असफल रहा। इसी निर्देशक ने १४ अक्तूबर १९७५ को अरेबियन नाइट्स की कथा पर आधारित मोहित चट्टोपाध्याय के बगला नाटक **अलीबाबा** को प्रस्तुत करके अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त किया। फिर भी **अलीबाबा** मे न तो नाटककार **गिनी पिग** की ऊंचाइयों को छू सका है और न निर्देशक ही **घासीराम** से आगे बढा है। पुरानी कहानी मे आज के संदर्भ पूरी तरह गुथ नही पाये। कथ्य की प्रासंगिकता को यदि छोड़ दें (?) तो निःसंदेह **अलीबाबा** का प्रस्तुतीकरण इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियों मे गिने जाने योग्य है। इसकी सफलता का श्रेय निर्देशक के साथ-साथ सुषमा सेठ (फातिमा), विश्वमोहन बडोला (अलीबाबा), सुषमा आहूजा (मरजीना), रंजना गौहर (सकीना) और कीमती आनन्द (मुस्तफा) के परिपक्व-कुशल अभिनय को भी मिलना चाहिए। अशोक भट्टाचार्य के दृश्य-बंध और एम० मुखर्जी की प्रकाश-योजना ने नाटक को प्रभावपूर्ण बनाया।

वर्षो के व्यवधान के उपरान्त नवम्बर १९७५ मे 'दिशांतर' सक्रिय हुआ और उसने ब्रजमोहन शाह के अपेक्षाकृत बड़े और कठिन नाटक **युद्धमन** को उन्ही के निर्देशन मे प्रस्तुत किया। बादल सरकार के **हीरोशिमा** की तरह यह नाटक भी युद्ध की भयावहता और अमानवीयता को प्रस्तुत करता है। विचार, चिंतन और मानव-भविष्य के प्रति ईमानदार बेचैनी के स्तर से यह नाटक जितना महत्त्वपूर्ण लगा, उतना प्रभावपूर्ण इसका प्रदर्शन नही हो सका। विस्तृत, बहुआयामी और उत्तेजक कथ्य को चुस्त नाटक के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सका। युद्ध के अनेक उबाऊ दृश्यो का संपादन आवश्यक था। फिर भी, पति-पत्नी सम्बन्धो के सीमित दायरे मे वर्षो से उलझे हिन्दी नाटक को एक व्यापक और नया क्षेत्र प्रदान करने के लिए नाटककार-निर्देशक शाह की प्रशसा की जानी चाहिए।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल का **व्यक्तिगत** वैसे तो पहली बार एम० के० रैना के निर्देशन मे 'यात्रिक' द्वारा दिसम्बर १९७४ के उत्तरार्द्ध मे कलकत्ता मे प्रस्तुत किया जा चुका था, परन्तु दिल्ली में यह १९७५ में ही प्रस्तुत किया गया। आज का जीवन एक तेज और अधी दौड या होड है जिसमें मनुष्य का 'व्यक्तिगत' या निजीपन खो गया है। नाटककार इसे पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों के माध्यम से तलाशने की कोशिश करता है। सूक्ष्म अनुभूति और

अमूर्त विचार ने मिलकर रूपबन्ध और शिल्प की दृष्टि से एक बिलकुल नये नाटक को जन्म दिया है जिसे निर्देशक एम० के० रैना ने प्रतीकात्मक शैली में अत्यन्त कुशलता के साथ प्रस्तुत किया। यह अलग बात है कि अभिनेता के रूप में 'मैं' को वह उतनी सहजता से नहीं निभा पाये जितनी सहजता-सफलता से इसे रवि बासवानी ने (कलकत्ता और आई० एन० टी०, दिल्ली में) प्रस्तुत किया। टेलीफोन के चोंगे, चाय के प्याले और अतिथियों की लिस्ट को दीर्घकाय बनाकर निर्देशक ने इन वस्तुओं के संदर्भ में मनुष्य के बौने होते जाने की हास्यास्पद और साथ ही करुण स्थिति का मनोरंजक चित्र प्रस्तुत किया है।

एम० के० रैना के ही निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय ने नवम्बर १९७५ में डॉ० लाल का अत्यन्त महत्वाकांक्षी नाटक एक सत्य हरिश्चन्द्र प्रस्तुत किया। ६९ अभिनेताओं और ४० अन्य रंगकर्मियों की सहायता से नाट्यविद्यालय के 'मेघदूत' नामक खुले मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले इस संगीत नाटक को डॉ० लाल के नाट्य-लेखन की उपलब्धि माना जा सकता है। मानव मूल्य, जीवित सत्य और रचनात्मक ढंग से समसामयिक जीवन से उनका सम्बन्ध खोजने के प्रयास में यह नाटक एक पौराणिक कथा को आधुनिक संदर्भों-संकेतों के साथ लोक-नाट्यशिल्प में सफलतापूर्वक प्रस्तुत करता है। डॉ० लाल ने पहली बार (वैसे कलंकी में भी वह इसका पूर्व-संकेत दे चुके थे) साफ तौर से तथाकथित 'धर्म' का पर्दाफाश किया है। प्रस्तुतीकरण में विविध लोकनाट्य रूपों—जैसे नौटंकी, सपेरा, जोगीडा के साथ रामलीला, पारसी और रीतिबद्ध के साथ-साथ यथार्थवादी अभिनय का सम्मिश्रण बेमेल लगता था। छंद-भंग और काव्यगत त्रुटियां भी काफी स्पष्ट थीं। रंगा की भूमिका में रघुबीर यादव ने नाटक को एक सूत्र में पिरोये रखने का भरसक और प्रशंसनीय प्रयास किया। देवधर और इन्द्र की भूमिका में पंकज कपूर तथा जीतन और विश्वमित्र की भूमिका में रमेश मनचन्दा का अभिनय भी प्रशंसनीय था। यह नाटक १९७५ के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में से एक माना जा सकता है।

कुल मिलाकर यह वर्ष वैविध्यपूर्ण रूप, रंग और स्वाद के नाटकों का वर्ष रहा। हिन्दी रंगमंच ने ड्राइंगरूम और बेड-रूम से बहार निकल कर जन-जीवन और मानव-भविष्य की सामान्य नियति से अपने सम्बन्ध-संपर्क बनाने का सार्थक प्रयास किया।

१९७६

नाट्य-गतिविधियों की दृष्टि से यह वर्ष राजधानी का हिन्दी रंगमंच विशेष उल्लेखनीय और वैविध्यपूर्ण रहा। हिन्दी के नये-पुराने मौलिक नाटकों के साथ-साथ अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषाओं से अनूदित पचास से भी अधिक नाटक यहाँ प्रस्तुत किए गए। प्रदर्शन-सख्या की दृष्टि से, मेरा अनुमान है कि इस वर्ष, अकेले राष्ट्रीय-नाट्य विद्यालय ने ही विविध नाटकों के लगभग सौ प्रदर्शन तो किए ही होंगे। गुणात्मक दृष्टि से भी कुछेक प्रस्तुतियों ने इस वर्ष प्रदर्शनीयता के नये प्रतिमान स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

इस रंग-वर्ष की शुरुआत 'नॉन ग्रुप थ्येटर फैस्टीवल' से हुई। १२ से १६ जनवरी तक श्रीराम सैंटर आफ आर्ट एण्ड कल्चर में क्रमश: मधु राय का नाटक **कुमार की छत पर** (अनुवादक : डा० प्रतिभा अग्रवाल, निर्देशक: रवि वासवानी), औगस्ट स्ट्रिंगवर्ग का **मिस जूली** (अनुवादक · सबा जैदी; निर्देशक · दीपक केजरीवाल);औल्ववैन वाईमार्क के **द इनहैबीटैंट्स**(अनुवादक · वी०के० शर्मा; निर्देशक : यूसुफ मेहता); फरनेंडी अर्राबाल के **द टू एग्जीक्यूशनर्स** (अनुवादक : सुरेखा सीकरी, निर्देशक : अहमद मुनीर); सेमुअल बैकेट के **एण्डगेम** (अनुवादक : कृष्ण बल्देव वैद; निर्देशक : अहमद मुनीर) तथा डा० लक्ष्मीनारायण लाल के मौलिक हिन्दी नाटक **व्यक्तिगत** (निर्देशक : रवि वासवानी) प्रस्तुत किए गए। लगभग सभी नाटको के प्रदर्शन स्तरीय थे और निर्देशकों के साथ-साथ सबीना मेहता, रवि वासवानी, रमेश मनचन्दा, दीपक केजरीवाल, यूसुफ मेहता, अदिति गुप्ता, रीना, शशि किरण इत्यादि कलाकारों का अभिनय भी सराहनीय था। परन्तु सस्था के नाम से लेकर नाटको के चुनाव तक अंग्रेजी का आक्रामक प्रभाव प्रबुद्ध दर्शकों को परेशान करता रहा। **कुमार की छत पर** एक उत्तेजक नाटक था और **व्यक्तिगत** का प्रदर्शन इससे पहले एम० के० रैना के निर्देशन में हो चुका था परन्तु इस प्रस्तुति मे रवि-वासवानी ने अभिनेता के साथ-साथ निर्देशक के रूप में भी पर्याप्त प्रभावित किया। 'मैं' के रूप मे वासवानी की गतियां तथा मन. स्थितियों के परिवर्तन अत्यन्त स्वाभाविक, सहज और कलात्मक थे।

दिल्ली की प्रसिद्ध नाट्य-संस्था 'अभियान' की ओर से फरवरी में परफार्मिंग ग्रुप (न्यूयार्क) ने ब्रेख्त के नाटक **मदर करेज एण्ड हर चिल्ड्रन** को पर्यावरण रगमंच के रूप मे प्रस्तुत करके यहा के दर्शकों को चमत्कृत और उत्तेजित कर एक नया रंगमचीय अनुभव प्रदान किया। 'मॉईनाइट्स' ने मौलियर पर आधारित हजरत आवारा के हास्य नाटक **कौआ चले हंस की चाल** को दीनानाथ के निर्देशन मे प्रस्तुत किया। जीतोड़ कोशिशो के बावजूद शेख जुम्मन के रूप में मोहन वर्मा को छोड़कर कोई अभिनेता जम नहीं सका और कुल मिलाकर

प्रस्तुति का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। मौलियर के ही एक अन्य हास्य-नाटक का उर्दू अनुवाद—**बीवियों का मदरसा** पेश किया—राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगरत वर्ग ने। अल्काज़ी के कुशल निर्देशन में हनीफ मुहम्मद के रूप में राजेश विवेक, गुलफाम के रूप मे एस० कुलकर्णी तथा कम्मों और हुस्नआरा की भूमिकाओं में उत्तरा बावकर तथा सुरेखा सीकरी ने प्रशंसनीय अभिनय किया। इस नाटक का प्रवाहपूर्ण एव प्रशसनीय रूपान्तरण बलराज पंडित ने किया था। दृश्य-बंध और संगीत-योजना स्वय अल्काज़ी की थी और प्रकाश व्यवस्था जी० एम० मराठे की। २६ फरवरी को वर्ष के ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त उपन्यास **ययाति** का नाट्य-रूपान्तरण (मंचीय-फीचर) सई परांजपे के निर्देशन में प्रस्तुत हुआ, जो शिथिल आलेख के कारण राज बब्बर, कुलभूषण खरबंदा, सुदेश स्याल, कीमती आनन्द, कुसुम, हैदर जैसे मजे हुए कलाकारों द्वारा भी जमाया नही जा सका। थ्री आर्ट्स क्लब की ओर से गोगोल के सुप्रसिद्ध नाटक पर आधारित **इंस्पैक्टर जनरल** को महेश मेहता ने फिर से प्रस्तुत किया। भ्रष्टाचार को गुदगुदाते-गुदगुदाते बेनकाब करने वाला यह प्रासंगिक नाटक देखना एक सुखद अनुभव था।

अग्रदूत के निमन्त्रण पर कलकत्ता की प्रसिद्ध हिन्दी नाट्य-संस्था 'अनामिका' ने मार्च के प्रथम सप्ताह मे बादल सरकार के बंगला प्रहसन **बड़ी भौजी** का हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया। अनुवादिका थी डा० प्रतिभा अग्रवाल और निर्देशक शिवकुमार जोशी। नाटक में नाटक की पुरानी युक्ति पर आधारित यह नाटक दिल्ली के दर्शको को संतुष्ट नही कर पाया। ममता चौधरी और मीरा जैन के सधे अभिनय के बावजूद यह हास्य नाटक काफी नीरस रहा और बादल सरकार तथा 'अनामिका' के नामो से अनायास पैदा हो जाने वाली अपेक्षाओ को पूरा नही कर पाया। प्रेमचन्द की बहुचर्चित कहानी 'कफन' पर आधारित एस० एम० मोदी के नाटक **कफन** को लिटिल थ्येटर ग्रुप की ओर से प्रस्तुत किया—निर्देशक बलराज पडित ने। प्रामाणिक वातावरण और प्रासगिक सामाजिक कमेंट के बावजूद प्रस्तुति घीसू और माधो की करुण-त्रासदी पर केन्द्रित नही हो पाई और समग्र प्रभाव की दृष्टि से असफल रही—हालांकि जैमिनी कुमार और रमेश कपूर ने भूमिकाओ के साथ पूरा न्याय किया। 'थ्येटर क्लब' की ओर से फैजल- अल्काज़ी ने मुद्राराक्षस के पुराने और पूर्व-प्रदर्शित काफी हद तक एब्सर्ड और कुद्ध-नाटक **मरजीवा** को फिर से प्रस्तुत किया। मच पर निर्मित कोलाज सुन्दर था और नाटक राजनीति तथा परिस्थितियों की अमानवीयता को उजागर करने मे सफल रहा। निर्देशक ने मूल आलेख में कहीं-कहीं परिवर्तन भी किया—विशेषत. अन्त मे। प्रस्तुति में प्रभावशाली अन्विति नहीं थी, फिर भी नाटक की तेजी और क्रूरता ने दर्शक को बाँधे रखा।

'नया थ्येटर' ने ३० मार्च से ४ अप्रेल तक अपनी परम्परा के अनुसार हबीब

तनवीर के निर्देशन में राजस्थानी 'ख्याल' शैली में **ठाकुर पृथीपाल सिंह** तथा छत्तीसगढ़ी नाचा शैली में **गांव का नाम ससुराल, मेरा नाम दामाद** के मनोरंजक प्रस्तुतीकरण किए। **कन्यादान मूंजी शूरमा** तथा **भोपा भूपी** को पटउन्नायक (कर्टन रेजर) के तौर पर मुख्य नाटकों से पूर्व प्रस्तुत किया गया। लोक गायक कलाकारों और लोक-कथाओं को लोक-शैलियों में शहरी दर्शकों के उपयुक्त बनाकर प्रभावपूर्ण एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करने की दृष्टि मे हबीब तनवीर ने अपनी अलग पहचान बना ली है। इसी कड़ी मे जुलाई के अन्तिम सप्ताह में 'नया थ्येटर' ने अपना बहुर्चाचित नाटक **चरनदास चोर** को फिर से प्रस्तुत किया। शास्त्रीय-नाट्य-धर्मिता और लोक-धर्मिता की ऊर्जा के कल्पनापूर्ण संयोजन से निर्मित यह कृति अपनी धरती की उर्वरता और समृद्धि को रेखांकित करती है। 'चरनदास' के रूप में मदनलाल तथा 'रानी' के रूप में फिदाबाई ने अविस्मरणीय अभिनय प्रस्तुत किया। कलाकारों की वाणी और देह का लचीलापन तथा नर्तकों की गति, सयोजक एव फुर्ती सचमुच दर्शनीय थी। निस्सन्देह यह एक महत्त्वाकांक्षी और अत्यन्त सफल प्रस्तुति थी।

अप्रेल के मध्य मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की ओर से सुरेन्द्र वर्मा का नया नाटक **आठवाँ सर्ग** प्रस्तुत किया गया। कालिदास के **कुमारसम्भव** के आठवें सर्ग की श्लीलता-अश्लीलता पर आधारित यह नाटक रचनाकार के अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य, सेंसर की अर्धवृत्त और सत्ता द्वारा मिलने वाले प्रश्रय अथवा सम्मान पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नचिह्न लगाता है। ऐतिहासिक प्रसग, पात्र और परिवेश के बावजूद यह नाटक पूर्णत: समकालीन, प्रासंगिक और सार्थक अनुभव देता है। कालिदास के रूप में मनोहर सिंह, प्रियंगुमंजरी के रूप मे सुरेखा सीकरी तथा धर्माध्यक्ष के रूप मे राजेश विवेक के प्रभावपूर्ण अभिनय के साथ-साथ उत्तरा बावकर (अनुसूया) राजेन्द्र गुप्त (सौमित्र), सुधीर कुलकर्णी (कीर्तिभट्ट), सोनू कृष्ण (प्रियंवदा) तथा सी० एस० वैष्णवी (चन्द्रगुप्त) ने भी स्तरीय अभिनय किया। परन्तु इस प्रस्तुतीकरण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इसने नाटककार सुरेन्द्र वर्मा की रचाशीलता के एक नये आयाम का उद्घाटन किया—राजेन्द्र गुप्त के सहयोग से इसका निर्देशन स्वयं नाटककार ने ही किया था।

२० मई से १५ जून तक राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय ने दस नाटकों के छत्तीस प्रदर्शनों का नाट्य-महोत्सव आयोजित किया। जार्ज बुखनर का अपेक्षाकृत कम चर्चित और अत्यन्त कठिन नाटक **वोएजेक** दिल्ली और हिन्दी मे ही नहीं भारतवर्ष में पहली बार खेला गया। आम आदमी के जीवन की विडम्बना और त्रासदी का जैसा जीवन्त, गंभीर, समृद्ध, सघन, उत्तेजक और कलात्मक अनुभव इस नाटक की प्रस्तुति ने दिया, वह निस्संदेह भारतीय रंगमंच की एक बड़ी घटना की तरह था। नाट्य-विद्यालय के स्टूडियो थ्येटर के छोटे मंच पर

बहुस्थानीय वैविध्यपूर्ण कार्य-व्यापार दिखाने के लिए अद्भुत प्रकाश-व्यवस्था (एस० बी० जोगालकर) और दृश्य-बंध (रोबिनदास) की रचना करके मानो मंच को गतिशील कर दिया गया था। रंजीत कपूर का निर्देशन और पंकज कपूर का अभिनय निःसन्देह इस महोत्सव की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। कमानी थ्येटर में प्रस्तुत शरद जोशी का *अंधों का हाथी* और अरुण मुखर्जी के बंगला नाटक *मारीच संवाद* का हिन्दी रूपान्तरण क्रमशः जमील अहमद और ज्योतिस्वरूप के निर्देशन में एक साथ प्रस्तुत किए गए। मानव भविष्य की चिन्ता को लेकर रचे गए ये दोनों नाटक लगभग समान भावभूमि और व्यंग्य-अनुभव के नाटक थे जिन्हें विविध धरातलों वाले सादे मंच पर विद्यालय के प्रथम वर्ष के छात्रों ने सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। इन्हीं छात्रों को लेकर मुक्ताकाशी मेघदूत मंच पर अल्काजी के निर्देशन में *मेन विदाउट शैडोज* की प्रस्तुति नाट्यालय की शक्ति और निर्देशक की प्रतिभा और परिश्रम को पूरी तरह प्रकट करने में असमर्थ रही। लगभग यही स्थिति *जोंसों से लोग* की थी। 'कमानी' में प्रस्तुत अल्काजी का *बौधियों का मदरसा* तथा सुरेन्द्र वर्मा का *आठवां सर्ग* अपने पूर्व-प्रदर्शनों की तरह महोत्सव में भी चर्चित रहे। अनिल चौधरी के निर्देशन में ब्रेख्त के नाटक का अनुवाद *निशाचर* तीव्र नाट्यानुभूति पैदा नहीं कर सका। भाषा का नंगापन और खुली गालियों का प्रयोग यद्यपि कथ्य के अनुरूप था फिर भी यहां का तथाकथित संभ्रांत-सुसस्कृत दर्शक उसे पचा नहीं पाया। 'मेघदूत' के खुले मंच पर मौलियर के *बिच्छू* को रंजीत कपूर के निर्देशन में मनोरंजक और प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया। 'कमानी थ्येटर' में नवोदित नाटककार रामेश्वर प्रेम का मौलिक हिन्दी नाटक *चारपाई* मनोहर सिंह के निर्देशन में प्रस्तुत हुआ। निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में आवास-स्थान की कमी के बहाने से मानवीय-संबंधों के विश्लेषण का यह नाटक प्रभावपूर्ण होने के बावजूद कहीं-कहीं भाषा के अटपटे मौलिक प्रयोग तथा आरोपित अतिबौद्धिकता से आक्रांत दिखाई देता था। अल्काजी के यथार्थवादी दृश्य-बंध तथा जी० एम० मराठे के कल्पनापूर्ण प्रकाश-संयोजन के साथ-साथ राजेश विवेक, सुरेखा सीकरी, उत्तरा बावकर, वैष्णवी और मृदुला तथा विजय के सधे अभिनय ने इस प्रस्तुति को काफी रोचक और महत्त्वपूर्ण बना दिया।

अभिनय की दृष्टि से रेपर्टरी के कुशल एवं पूर्णतः प्रशिक्षित–प्रतिष्ठित अभिनेताओं के अलावा पंकज कपूर, के० के० रैना, दीपक केजरीवाल, रघुवीर यादव, अनुपम खेर, एस० रघुवणी, रवि शर्मा, ज्योतिस्वरूप, यूसुफ मेहता, हेमन्त मिश्र, सबीना मेहता, अतिया बख्त, मधु मालती, जैसे कलाकार इस महोत्सव से उभरकर सामने आए, परन्तु इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी निर्देशक के रूप में रंजीत कपूर का उदय।

मई के अंत में जे० पी० दास के उड़िया नाटक का श्रीमती कांति देव द्वारा

किया गया हिन्दी अनुवाद **सूर्यास्तक** 'दिशान्तर' की ओर से रामगोपाल बजाज के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया। बजाज का निर्देशन और ओमपुरी तथा माला मेहरोत्रा का अभिनय अच्छा था परन्तु आलेख की शिथिलता के कारण प्रस्तुति अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रही। जून में, 'अंकुर आर्ट्स' ने शैलेन्द्र के निर्देशन मे **किसी एक फूल का नाम लो** प्रस्तुत किया तो जुलाई के तीसरे सप्ताह में थ्येटर क्लब की ओर से सोनू कृश्न के निर्देशन मे मधुराम के इसी नाटक की एक और प्रस्तुति की गई। इस प्रस्तुति में सुषमा सेठ और बनवारी तनेजा के सधे अभिनय-के साथ-साथ रंजीत कपूर की प्रकाश-व्यवस्था भी प्रशसनीय रही। शैलेन्द्र गोयल के निर्देशन में बादल सरकार के बहुचर्चित नाटक **पागल घोड़ा** को भी 'अंकुर आर्ट्स' ने ही प्रस्तुत किया।

इस बीच रमेश बक्षी के आवेश टैरस थियेटर पर ज्योतिस्वरूप, यूसुफ मेहता, हेमन्त, मृदुला जैसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के उत्साही छात्रों द्वारा बिना किसी तामझाम के कुछेक अच्छी अनौपचारिक प्रस्तुतिया की गईं। नॉन ग्रुप की ओर से रवि बासवानी ने डा० लक्ष्मीनारायण लाल के दो छोटे नाटकों—**यक्ष प्रश्न** और **उत्तर युद्ध**—को रवीन्द्र भवन के खुले लान मे सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। महाभारत की कथाओं पर आधारित इन समसामयिक लघु नाटकों की प्रस्तुति ने नाटककार-निर्देशक और अभिनेता के सतुलित सहयोग और समन्वय का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करके दर्शकों को प्रभावित किया।

सितम्बर में राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय की ओर से एक अन्य नाट्य महोत्सव आयोजित किया गया जिसमें अल्काज़ी द्वारा निर्देशित जान आस्बर्न के **लुक बैक इन ऐंगर** तथा रामगोपाल बजाज द्वारा निर्देशित सुरेन्द्र वर्मा के **सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक** की बहुप्रशंसित और बहुचर्चित सफल पूर्व-प्रस्तुतियो के अतिरिक्त मोहन राकेश का बहुमचित—उत्तेजक नाटक **आधे-अधूरे** भी था जिसे अमाल अल्लाना के निर्देशन में एक बिल्कुल नये ढंग से प्रस्तुत किया गया। इस नाटक के पाठकों और दर्शकों के लिए इस प्रस्तुति की मंच-परिकल्पना, कोरस का समावेश और नाटक का सम्पादन करके उत्पन्न किया गया 'अलगाव' जैसी नवीनताएं सचमुच कल्पनातीत थी। राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय की ओर से नत्थाराम शर्मा गौड़ की लिखी नौटंकी **लैला मजनूं** की विशुद्ध हाथरसी स्वांग शैली मे प्रस्तुत किया जाना दिल्ली के रग-प्रेमियो को आश्चर्य-चकित कर गया। प्रसिद्ध स्वाग गायक गिरिराज प्रसाद की देख-रेख में निर्देशक अनिल चौधरी ने इस परम्परागत लोक-नाट्य को आधुनिक नाट्यानुभवों से जोड़कर शहरी दर्शकों को एक भिन्न रंगानुभूति प्रदान करने का प्रयोग किया। रगा के रूप में अनिल कपूर तथा रघुवीर यादव तो गायन को फिर भी निभा ले गए परन्तु शेष कलाकार नौटकी के ऊंचे 'सुर' और 'पिच' तथा अभिनय के विविध

स्तरों से जूझते रह गए। फिर भी, कुल मिलाकर दिल्ली के दर्शकों के लिए **लैला मजनूं** एक सुखद अनुभव रहा।

इसी समय डा० लक्ष्मीनारायण लाल के संगीत-प्रधान नाटक **सगुन पंछी** (**नाटक तोता मैना** का नया रूप) को सुब्बाराव के निर्देशन में लिटिल थियेटर ग्रुप की ओर से प्रस्तुत किया गया। नारी-पुरुष सम्बन्धों के बुनियादी मनोविज्ञान की छान-बीन करने वाला यह नाटक दर्शकों को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। नाटक से अलग और ऊपर से तैरते हुए डा० लाल के सिद्धांत-वाक्य और जीवन-सूत्र, बेसुरे-गायन तथा सामान्य से अभिनय-निर्देशन ने मिल-कर इस प्रस्तुति को सफल नहीं होने दिया।

अपने पहले दोनो नाट्योत्सवों की अभूतपूर्व सफलता से प्रेरित होकर राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय ने अक्टूबर मास में अपने चुने हुए बहुप्रशंसित नाटकों का एक और महोत्सव आयोजित किया। **नौटंकी - लैला मजनूं, आधे-अधूरे, बिच्छू, लुक बैक इन ऐंगर** तथा **चारपाई** के अतिरिक्त जार्ज बुखनर के सुप्रसिद्ध महत्त्वाकांक्षी नाटक **दाँतोन डैथ** को अल्काजी के निर्देशन में विद्यालय के मुक्ताकाशी व्यापक मच पर प्रस्तुत किया। **बिच्छू** को भी नये कलाकारों के साथ अल्काज़ी के निर्देशन में थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ फिर से पेश किया गया। अभिनय के अतिरिक्त, नाट्यालेख में जोड़े गए प्रासंगिक हास्य-संदर्भों तथा द्रुत-गति का भ्रम उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त चामत्कारिक नीली प्रकाश-योजना के कारण सामान्य-दर्शक ने इस प्रस्तुति को खूब मजा लेकर देखा। फ्रांस की सफल क्रांति के बाद के रक्तपात, पारस्परिक संघर्ष और नायक के पतन पर आधारित विराट नाटक **दांतों की मौत** में मंच के तीन ओर बैठे दर्शकों को अपनी व्यापकता से अभिभूत तो किया परन्तु जे० एन० कौशल के अनुवाद की क्लिष्ट असम्प्रेषणीय उर्दू भाषा तथा दूर तक फैले-बिखरे मंच पर प्राय. सुनाई न देने वाले संवादों के कारण दर्शक उसमें डूब नहीं पाए। **दांतों की मौत** के मूल कारण का रेखांकित न हो पाना भी इस प्रस्तुति की एक बड़ी सीमा थी। 'नॉन ग्रुप' की ओर से रवि वासवानी ने मौलियर के प्रसिद्ध नाटक **द माइजर** को **मक्खीचूस** बनाकर जिस तरह प्रस्तुत किया—वह ऐतिहासिक और विदेशी बड़े नाटकों को न्यूनतम साधनों में प्रस्तुत करने के एक नये रास्ते का महत्वपूर्ण संकेत है (इन्होंने **अंधायुग** को भी पहले इसी पद्धति से सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया था)। लाला धन्नामल के रूप में बनवारी तनेजा तथा कल्लू के रूप में स्वयं रवि वासवानी ने सुन्दर अभिनय प्रस्तुत किया। इसी मास के अंत में रवि वासवानी द्वारा प्रस्तुत बादल सरकार के संगीत-नाटक **अबू हसन** की प्रस्तुति भी प्रशसनीय रही। 'रचना' की ओर से त्रिवेणी कला संगम के खुले प्रेक्षागृह के मध्यभाग की सीढ़ियों को मंच के विविध धरातलों की तरह प्रयोग करके **एंटीगनी** को प्रस्तुत किया विश्वनाथ चटर्जी

ने। परन्तु सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक रूप में **एण्टीगनी** को प्रतिष्ठित नही किया जा सका। यह एक अच्छे नाटक की बहुत कमजोर प्रस्तुति थी। लखनऊ की रग संस्था 'लक्रीम' ने असगर वजाहत कृत **जॉनबुल** को विजय मोनी के निर्देशन में प्रस्तुत किया। दृश्य-बंध उपयोगी, सुन्दर और प्रतीकात्मक था परन्तु इस शब्द-बहुल कथात्मक नाटक का कोई विशेष प्रभाव नही पडा। निर्देशक ने आरम्भ में ग्रोत्तोवस्की शैली, फिर लोक-शैली और शेष नाटक में यथार्थवादी नाट्य शैली को जिस रूप मे नियोजित किया, उससे भी नाटक का समग्र-प्रभाव खण्डित होता चला गया। अभिनय नाट्यालय द्वारा बी० पी० पांडे के निर्देशन में तेंदुलकर के **सखाराम बाइंडर** तथा 'अभिकल्प' द्वारा गुलशन कुमार के निर्देशन मे **पंछी ऐसे आते हैं** के सामान्य के प्रस्तुतीकरण हुए। ज्योतिस्वरूप के निर्देशन में डा० लाल के नाटक **सब रंग मोह भंग** का प्रदर्शन राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय के स्टूडियो थ्येटर मे हुआ, जिसे एक शो के बाद अज्ञात कारणो से प्रतिबन्धित कर दिया गया।

वर्ष के अन्तिम दिन नाट्य-गतिविधियों की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण रहे। नवम्बर के आरम्भ में 'अग्रदूत' ने इन्द्रा पार्थसारथी के तमिल ऐतिहासिक नाटक **औरंगजेब** का हिन्दुस्तानी अनुवाद प्रस्तुत किया। अनुवादक थे सुरेन्द्र गुलाटी और निर्देशक एम० के० रैना। दृश्य-बंध परिकल्पना भी स्वय निर्देशक रैना की थी जिसके विविध धरातलो का बहुआयामी उपयोग उन्होंने विभिन्न कार्य-व्यापारो और कार्य-स्थलो के लिए सुशील चौधरी की कल्पनापूर्ण प्रकाश-व्यवस्था के सहयोग से बखूबी किया। अभिनय की दृष्टि से दारा के रूप मे प्राण तलवार, शाहजहा के रूप मे राजेन्द्र कुमार तथा औरंगजेब के रूप में राज बब्बर ने प्रभावपूर्ण अभिनय किया। समकालीन सदर्भों के कारण इसने कई बार कर्नाड के **तुगलक** और भारती के **अंधायुग** की याद दिलाई परन्तु नाटक पर दारा हावी है और औरंगजेब गौण हो जाता है। शाहजहा की स्वप्नशील भावुकता को पागलपन की हद तक पहुचाना भी आवश्यक नही था। दृश्यत्व पर बल है, दारा और मलिक तथा औरंगजेब और दारा के बीच विवाद के प्रसंग अत्यन्त नाटकीय है। परन्तु अत कमजोर है और अन्विति के बिखराव के कारण नाटक का तीव्र एकाग्र प्रभाव नही पडता। लगभग इन्हीं दिनों 'अभियान' ने राजिन्दर नाथ के निर्देशन मे वसंत देव द्वारा अनूदित और दाह-संस्कार जैसे कर्मकाड के माध्यम से मध्यमवर्गीय नैतिकता पर आधारित सतीश आलेकर के मराठी व्यग्य सगीत-नाटक **महानिर्वाण** को **घासीराम कोतवाल** तथा **अलीबाबा** की अगली कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया। मोहन उप्रेती का सगीत और एस० मुखर्जी का प्रकाश-सयोजन *नाटक की मूल भावना के सर्वथा उपयुक्त* था। निर्देशक के परिश्रम और विनोद नागपाल के सशक्त गायन-अभिनय के बल पर मध्यातर तक तो नाटक *ठीक* चल जाता है परन्तु उसके बाद घिसटने

लगता है और कमज़ोर आलेख को जमा ले जाने की तमाम कोशिशें अन्ततः बेकार सिद्ध होती हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने भी **दांतों की मौत** तथा **आधे-अधूरे** के पाच-पांच प्रदर्शन इस बीच फिर से किए तथा 'अभिनय' द्वारा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय मे मुद्राराक्षस के नाटक **तेंदुआ** को विभूति झा तथा असद जैदी के निर्देशन मे प्रस्तुत किया गया। 'ब्रेख्तियन मिरर' की ओर से अमिताभ दास गुप्ता ने ब्रेख्त के नाटक **दि लाइफ आफ गैलिलियो** के हिन्दी अनुवाद को श्रीराम केन्द्र के तलघर में प्रस्तुत किया। राजेश विवेक, डा० लाल, अभिनव तथा गीता कपूर का अभिनय अच्छा था परन्तु कुल मिलाकर इसे एक ईमानदार और सही कोशिश भर कहा जा सकता है। कला साधना मदिर की ओर से रेवतीशरण शर्मा के नये नाटक **राजा बलि की नयी कथा** को निर्देशक चमन बग्गा ने पूरी रगमचीय साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया परन्तु नाट्यालेख की एकायामिता और सतही निष्कर्षवादिता को ढंकने मे असमर्थ रहे।

दिसम्बर में युवा नाटककार-निर्देशक बलराज पडित ने अपने दो नाटक लगभग साथ-साथ ही प्रस्तुत किए। लिटिल थ्येटर ग्रुप की ओर से **लोग उदासी** तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगरत वर्ग की ओर से **जनाने दांत का हस्पताल** दोनों प्रस्तुतियों में नाटककार-निर्देशक ने यह प्रमाणित किया कि वह केवल नाम का ही नही बल्कि रंगमंच के व्याकरण का भी 'पण्डित' है। परन्तु माध्यम की पहचान और व्याकरण की समझ बलराज पंडित को कथ्य की अपेक्षा शिल्प की दुरूहता और अमूर्तता की ओर ही ले जा रही है। परिणाम यह है कि अच्छे अभिनय और सुन्दर दृश्यत्व के बावजूद ये दोनो प्रस्तुतियां दर्शकों को बांधने मे असमर्थ रहीं और कोई तीव्र नाट्यानुभव नही दे सकी। राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय ने ही सुशील कुमार सिंह के नाटक **चार यारों की यार** को उन्ही के निर्देशन में प्रस्तुत किया। बिंदिया की भूमिका में कविता चौधरी तथा मास्टर सीताराम और जीवन की भूमिकाओं में क्रमश आर० एस० बुन्देला तथा ज्योतिस्वरूप ने श्रेष्ठ अभिनय का प्रदर्शन किया। जमील अहमद का दृश्य-बंध और प्रकाश-सयोजन भी उत्कृष्ट कोटि का था परन्तु नाट्यालेख की अश्लीलता और बार-बार उसके स्थूल-प्रत्यक्षीकरण ने सुरुचिपूर्ण दर्शको को खासा नाराज किया। नाटक के अंत मे नायिका द्वारा नाटककार का स्पष्टीकरण कतई विश्वसनीय नहीं लगता और स्वय लेखक की छद्म-बौद्धिकता को बेपरदा कर देता है। 'आयाम' की ओर से वासु भगत के नाटक **जंगली कबूतर** के मीना विलियम्स कृत हिन्दुस्तानी अनुवाद को निर्देशक श्याम अरोरा ने फाइन आर्ट्स थ्येटर में प्रस्तुत किया। आर० जी० आनन्द का दृश्य-बध तथा ओ० पी० कोहली की प्रकाश व्यवस्था ने नाटक की मूल भावना को अच्छी तरह पकड़ा। गुल के रूप मे वीणा खन्ना तथा सोना के रूप में कुमुद

ने अभिनय की ऊंचाइयों को छुआ। किसन के रूप में राजा का अभिनय भी स्तरीय था। प्रस्तुति ने दर्शकों को अच्छा मनोरंजन और रोचक अनुभव प्रदान किया परन्तु नाटक का कथ्य और उसकी स्थितियाँ चूंकि सरलीकृत और फिल्मी-सी थीं अतः कोई गम्भीर और उत्तेजक अनुभव नहीं दे पाई। 'अभिकल्प' द्वारा गुलशन कुमार के निर्देशन में विजय तेंदुलकर के **सखाराम बाइंडर** तथा 'प्रतिविम्ब' द्वारा पकज सक्सेना के निर्देशन में **बेबी** प्रस्तुत किये गये। अनिल चौधरी द्वारा इंडिया इन्टरनेशनल में असगर वजाहत के नाटक **इन्ना** का प्रदर्शन किया गया। सत्ता और मानवीयता के संघर्ष को रेखांकित करने वाले इस नाटक में इन्ना के मानवीय व्यक्तित्व और राजनीति के चंगुल में उसके रूपान्तरण को दीपक केजरीवाल ने जीवन्तता से पेश किया। बादशाह के रूप में पंकज कपूर तथा वजीरे आजम के रूप में पंकज सक्सेना ने भी सशक्त अभिनय किया। परन्तु नाट्यालेख शिथिल था और पूर्वाभ्यास की कमी ने उसकी कमजोरियों को और भी उजागर कर दिया था। पिछले कुछ दिनों से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के कलाकारों ने नाटक की आन्तरिक अपेक्षाओं और सांकेतिकता की परवाह किए विना—साहसिकता के नाम पर—जो चुम्बन-आलिंगन की परम्परा शुरू की है—**इन्ना** उसका अपवाद नहीं था।

कुल मिलाकर पिछला वर्ष नाट्य-समारोहों के आयोजनों, रंग-प्रस्तुतियों की सख्या, प्रदर्शन मूल्यों की श्रेष्ठता और नाट्य-दर्शकों की वृद्धि की दृष्टि से जितना समृद्ध और महत्वपूर्ण रहा उतना गम्भीर और श्रेष्ठ मौलिक हिन्दी नाटकों के सृजन की दृष्टि से नहीं रहा। दिल्ली में अब छोटी-बड़ी नाट्य सस्थाओं की संख्या लगभग १५० तक पहुंच गई है और तकनीकी दृष्टि से भी हमारा रंगमंच तेजी से विकसित हो रहा है। उसके लिए निरन्तर अच्छे और नये नाटकों की मांग भी बहुत तेजी से बढ़ रही है। रंगमंच की इस बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए नये-पुराने सभी नाटककारों पर एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ा है—इस चुनौती को उन्हें गम्भीरता से स्वीकार करना होगा।

१९७७ (क)

फरवरी मास मे श्रीराम कला केन्द्र द्वारा आयोजित राष्ट्रीय नाट्य महोत्सव के बाद यहां **हानूश, जंगली कबूतर, शाबाश अनारकली, सूत्रधार ७७, गांव का नाम सुसराल, मेरा नाम दामाद** तथा **चरनदास चोर** जैसे पूर्वप्रदर्शित नाटकों को फिर से प्रस्तुत किया जाता रहा। इसलिए यदि सच पूछा जाए तो पिछले कुछ दिनों मे यहाँ के रंगजगत पर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ही हावी रहा। मार्च के अंतिम दिनों से आरम्भ होकर अप्रैल के आरम्भिक दिनों तक

चलने वाले बोधायन कृत सस्कृत प्रहसन **भगवदज्जुकम्** (अनुवादक : नेमिचन्द्र जैन) तथा जीयामी कृत जापानी नोह शैली के नाटक **सोतोबा कोमाची** (अनुवादक : बलराज पडित) को अमाल अल्लाना के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया। दो भिन्न देशों और सस्कृतियो के अति प्राचीन इन शास्त्रीय नाटकों में अद्भुत साम्य था। दोनों नाटको को एक साथ देखना एक सुखद अनुभव था जिसने दो अति प्राचीन नाट्य-परम्पराओं से साक्षात्कार करने का अभूतपूर्व अनुभव प्रदान किया। जहा तक **भगवदज्जुकम्** का प्रश्न है, इसे १९५९-६० मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने ही पहले भी प्रस्तुत किया था। इसके बाद लिटिल थ्येटर ग्रुप की ओर से क्रमश गुलशन कपूर और बलराज पडित ने भी प्रस्तुत किया। परन्तु जापानी नोह नाटक के प्रस्तुतीकरण ('काबुकी' दो बार हो चुका है) का राजधानी में सम्भवत यह पहला ही अवसर था। तीन अभिनय क्षेत्रों मे विभक्त लगभग खाली-मच का, शैली-बद्ध अभिनय, कोरस और सगीत के माध्यम से जीवन्त उपयोग किया गया। **भगवदज्जुकम्** मे सस्कृत नाटकों की विशिष्ट, नाट्य-रूढियों और **सोतोबा कोमाची** मे नोह की शैली-बद्धता एव शान्त-मंथर लय-गति का कलात्मक प्रस्तुतीकरण हुआ। यह अलग बात है कि दिल्ली का तीव्र गति और तनाव-द्वन्द्व पसद दर्शक इस स्थिरप्राय गति से ऊब गया और हिन्दी सवादों की जापानी लय में ही उलझता रह गया। अनुपम खेर (परिव्राजक) अनंग देसाई (शाडिल्य), जी० पी० नामदेव (यमदूत) तथा कविता चौधरी (कोमाची) और रूपकुमार राजदान (परिव्राजक) ने श्रेष्ठ अभिनय किया। वेश-भूषा, सगीत और प्रकाश-व्यवस्था नाटकों की मन स्थितियों के सर्वथा अनुकूल और प्रभावपूर्ण थी।

१५ अप्रैल से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगरत वर्ग की ओर से श्रीराम कलाकेन्द्र मे वसत्र कानेटकर के छत्रपति शिवाजी के जीवन पर आधारित ऐतिहासिक नाटक **जाग उठा है रायगढ़** (अनुवादक : वसंतदेव) को इब्राहिम अल्काजी के निर्देशन मे प्रस्तुत किया गया। नाटक मूलत. पिता-पुत्र के सम्बन्धों के माध्यम से तत्कालीन राजनीति और इतिहास को प्रस्तुत करता है। यद्यपि नाटककार ने इतिहास के कुछ रिक्त स्थलों की पूर्ति के लिए बखर कथाओं और लोकवार्ताओं का भी पर्याप्त आश्रय ग्रहण किया है फिर भी नाटक का मूल बल ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर ही अधिक है। शिवाजी और शम्भुराजा के संबंधों मे समसामयिक राजनैतिक संदर्भों की झलक और इनके चरित्रों की मानसिक उथल-पुथल के कारण यह नाटक अच्छा लगा। सोयराबाई के सकुचित स्वार्थों, सामान्य और दुष्टतापूर्ण आक्रामक चरित्र तथा येसूबाई के सहज विश्वासी, समर्पित और दबे-घुटे सरलीकृत एवं एकायामी चरित्रों को क्रमशः उत्तरा बावकर और सुरेखा सीकरी ने अपने अभिनय के बल पर जीवन्त तथा मानवीय बनाने की कोशिश की। शिवाजी और शम्भुराजा के चरित्र काफी वैविध्यपूर्ण और

जटिल हैं। शिवाजी के रूप में मनोहर सिंह ने अपने चरित्रके तमाम पक्षों—बड़प्पन, दूरदर्शिता, सहृदयता, शक्ति और विवशता को जीवन्त कर दिखाया। पिछले कुछ दिनों से ऐसा लगने लगा है कि संवादों को जल्दी-जल्दी बोलने की प्रक्रिया में कुछ शब्द मनोहर सिंह के ओठों से उलझ कर रह जाते है और कुछ भीतर ही भीतर टकराकर गुत्थम-गुत्था हो जाते हैं। भावना, शक्ति, ऊष्मा और गति के बावजूद शब्दों का सही और पूर्ण उच्चारण (जिसे अंतिम सीट का श्रोता भी भली प्रकार सुन और समझ सके) रंग-भाषण की पहली शर्त है; मनोहर सिंह जैसे कुशल, सफल और समर्थ अभिनेता को अपने स्वर नियंत्रण पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। बावजूद इसके मनोहर सिंह निस्सदेह इस प्रस्तुतीकरण की जान थे, और शेष अभिनेता उनके कंधे भी नही छू पा रहे थे। शम्भुराजा के रूप में के० के० रैना ने चरित्र का बाह्य आक्रामक उग्र पक्ष तो सफलतापूर्वक उजागर किया परन्तु चरित्र के अकेलेपन की त्रासदी और अन्तर्द्वन्द्व को वह अच्छी तरह नही उभार पाए। रामराजा की भूमिका मे प्रेम मटियानी ने पिता की मृत्यु के बाद उनके सवादों की पुनर्प्रस्तुति को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने मे सफलता पाई। पूरी प्रस्तुति मे ही निर्देशक का बल भावुकता भरे चित्रण पर ही अधिक था और अंतिम दृश्य तो एकदम रामलीला के 'भरत मिलाप' की याद दिलाने वाला था। वस्त्र-सज्जा, रूप-विन्यास, संगीत और प्रकाश-योजना की दृष्टि से यह प्रदर्शन अत्यन्त कलात्मक और सम्पूर्ण था। परन्तु कुल मिलाकर, संरचना की शिथिलता तथा शिवाजी और शम्भुराजा दोनो के अंतर्द्वन्द्व और चरित्रों की गहराई में जाने के प्रयास के कारण नाटक का तीव्र और एकाग्र प्रभाव नही पड़ता। नाटक इन दोनो के बीच बिखर गया है।

माह के तीसरे सप्ताह में नाट्य-विद्यालय ने अनुवाद की लम्बी यात्रा से हिन्दी तक पहुँचा नाटक **अन्तिम यात्रा** प्रस्तुत किया। यह नाटक शिचिरों गुकाजारा के जापानी उपन्यास **नारायामा** के गेब्रियल कूजा द्वारा आधुनिक फ्रेंच रूपातर '**ल वायेज द डेरिये ल मोन्तानो** के अंग्रेजी अनुवाद **जर्नी टू द माउन्टेन बियांड** का हिन्दी अनुवाद था। उपन्यास का परिवेश मूलत: जापानी गाँव का है और इस नाटक के प्रस्तुतीकरण में जापानी की 'नोह' पद्धति का प्रयोग भी किया गया, परन्तु घटनास्थल को बदलकर 'तिब्बत' का गाँव बना दिया गया। अनुवाद अजय कालिक का है जिसमें अन्य अभिनेताओं तथा श्री ई० अल्काज़ी के बहुमूल्य सुझावों का योगदान भी कम नही है। बैरी जॉन द्वारा निर्देशित प्रस्तुत नाटक किसी अविकसित पहाडी गाँव के क्रूर एव त्रासद जीवन मे हमारा परिचय कराता है। भूख मानवीय सम्बन्धों को कैसे प्रभावित और निर्धारित करती है तथा भूख-भय जीवन और मृत्यु के रिश्ते को कैसे आमूल-चूल बदल देता है—इसका जीवन्त साक्षात्कार हमें इस नाटक में होता है।

दिन-रात परिश्रम करने के बावजूद यहाँ भूख की भीषणता इतनी प्रबल है कि प्रत्येक नये बच्चे के जन्म के साथ ही एक बूढ़े आदमी या औरत को खुशी-खुशी पर्वत के ईश्वर की शरण (मृत्यु) में जाने के लिए तीर्थयात्रा (जो वास्तव में अन्तिम यात्रा है) के लिए जाना पड़ता है। भूख, जनसंख्या और अज्ञान की समस्याओं पर आधारित यह नाटक मन में कई प्रश्न पैदा करता है। ओ-रिन का पहाड़ों के पार ईश्वर से मिलने जाना वास्तव में क्या है—आत्महत्या या हत्या? ओ-रिन अपनी इच्छा से पूरी तैयारी करके जाती है, अतः इसे आत्महत्या ही कहना चाहिए। वह यह सब ईश्वर के नाम पर करती है, अतः धर्म है। तापी (उसका बेटा) वहाँ की स्थिति जानते बूझते हुए (सामाजिक परम्परा, और रूढ़ि की मर्यादा के कारण) छोड़ जाता है, अतः यह हत्या है। ईकोमो और उसके बेटे की समान्तर घटना द्वारा भी यह हत्या ही सिद्ध होती है। ओ-रिन और ईकोमो के समान्तर प्रसंगों से एक सवाल यह भी उठता है कि क्या मृत्यु का सहज स्वीकार अथवा उसका 'ग्लोरीफिकेशन' उसे सरल और सहज नहीं बना देता? यदि उसे बदला और टाला नही जा सकता तो उसे ईश्वरीय इच्छा और अनिवार्य परिणति के रूप मे स्वयं खुशी-खुशी ही क्यों न स्वीकार किया जाये? परन्तु प्रमुख परिवार के संदर्भ मे ओ-रिन का प्यार, परिश्रम और व्यवस्था उस घर के लिए अनिवार्य है। उसके 'अन्तिम यात्रा' पर जाने का एकमात्र कारण 'भूख' नही है—यहा सामाजिक रूढियों और निरर्थक धार्मिक मर्यादाओ की क्रूरता-बर्बरता ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण पत्थर से अपने दाँत स्वयं तोड़ने की असह्य पीड़ा सहकर भी वह प्रसन्न और संतुष्ट होती है। प्रकारान्तर से यह नाटक बताता है कि परिस्थितियो को बदलने के लिए संघर्ष न करने और चुपचाप इन्हे स्वीकारते जाना कितना क्रूर और अमानवीय हो सकता है तथा 'भूख' और रूढ़ियों की गुलामी आदमी को कितना स्वार्थी, बर्बर और नगा बना देती है। नाटक के 'परिचय-पत्र' में कहा गया है कि "...कोसाकीची इस जीवन-क्रम को मानने से इन्कार कर देता है। वो नयी दिशाएँ खोजेगा और जीवन को अच्छा होने पर मजबूर कर देगा।" परन्तु प्रश्न यह है कि घोर स्वार्थी, कामुक और निठल्ला कोसाकीची जो ओ-रिन का मजाक उड़ाता है और उसे जबर्दस्ती यात्रा पर जाने के लिए मजबूर करता है, अपनी बारी की आशका मात्र से भयभीत होकर ही ऐसा कहता है। यहाँ भी, व्यक्तिगत कारणो से ही सही, यदि वह व्यवस्था और परम्परा से लड़ने की बात कहता तो उसका संघर्ष अर्थपूर्ण हो सकता था परन्तु विडम्बना यह है कि वह उससे लड़ने या उसे बदलने के स्थान पर आत्मरक्षा के लिए वहाँ से भाग जाने की बात करता है। इसलिए यह एक करुण स्थिति का नाटकीय चित्रण-भर है। हाँ, यदि निर्देशक चाहता तो निस्सन्देह अंत में थोड़ा-सा हेर-फेर करके

इसे क्रूर परिस्थितियों के खिलाफ मानव की गौरवपूर्ण संघर्ष-गाथा के रूप में प्रस्तुत कर सकता था।

निर्देशक बैरी जॉन अंग्रेजी के बड़े-बड़े नाटकों के भव्य प्रदर्शनों के लिए विख्यात है। इस दृष्टि से, वह अल्काजी के बहुत निकट भी पड़ते हैं। नाटक के आरम्भ में अभिनेताओं की देह के प्रयोग से हवा, पानी, पत्थर, फसलों इत्यादि को प्रभावपूर्ण ढग से साकार कर दिखाना सचमुच अद्भुत था। प्रस्तुतीकरण की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता थी मुख्य पात्रों के अन्तर्मन को प्रस्तुत करने के लिए मुखौटाधारी अभिनेताओं की अतिरजित गतियो-मुद्राओं का प्रयोग, जिससे कभी-कभी मंच पर दो नाटकों का साथ-साथ एक दूसरे पर टिप्पणी करते हुए चलना अत्यन्त मनोरजक और प्रभावपूर्ण था। नाट्य सरचना मे वाचकों का आन्तरिक बुनाव तथा ओ-रिन के दांत तोडने एवं पहाड़ पर लाशों और कौओं के दृश्य निर्देशक की प्रतिभा के प्रमाण थे। लगभग पचास रगकर्मियों की प्रतिभा और उनके सतत अभ्यास एवं परिश्रम की झलक प्रस्तुति में मौजूद थी। वाचकों के रूप में डौली आहलूवालिया तथा वागीश कुमार सिंह के अतिरिक्त दादी माँ ओ-रिन के रूप में मोना चावला, तापी के रूप में ज्ञान शिवपुरी, कोसाकीची के रूप मे अनिल कपूर तथा तामायन और पयूमिकों की भूमिकाओं में नन्दिता श्रीवास्तव एवं नूतन मिश्रा ने स्तरीय अभिनय (एव गायन) किया। अन्तर्मन के अभिनेताओं (गोपी निमेश देसाई, युवराज शर्मा, अमरदीप चड्ढा और अजय कार्मिक) ने भी मन की छिपी भावनाओं को सगत नाटकीय अभिव्यक्ति दी। बैरी जॉन अपने समूहनों और नृत्य-संयोजनो के लिए पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके है। परन्तु इस प्रदर्शन में श्राद्ध के त्यौहार का नृत्य प्रभावपूर्ण नहीं था और न ही अशोक सागर भगत की प्रकाश-व्यवस्था समुचित थी। अनेक स्थानों पर अभिनेताओं के चेहरे तक ठीक से आलोकित नही हो पाए। पाँच-छ: अभिनय स्थलों में विभक्त विशाल दृश्य-बंध का कलात्मक उपयोग अवश्य प्रशंसनीय था। अन्तिम यात्रा निस्सदेह राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय की एक महत्वाकांक्षी एवं उत्तेजक प्रस्तुति थी।

(ख)

लगातार बढ़ती हुई गर्मी के साथ-साथ निरन्तर [illegible] होते जाते नाट्य प्रदर्शनों के इस मौसम में मई मास के दिल्ली रंगमंच [illegible] द्वारा प्रस्तुत एस० एस० मेहदी के नाटक मारे गए गुलफ़ाम से [illegible] अजीज [illegible] के निर्देशन में राजनीतिक हास्य-व्यंग्य संदर्भों से भरी यह प्रेम-कहानी [illegible] मई तक त्रिवेणी के मुक्ताकाशी प्रेक्षागृह मे दिखाई गई। अनंत आकाश में चि काल तक ऊंची उड़ानें भरने का दावा करने वाला प्रेम और इश्क का रिश्त विवाह-संबंध का रूप धारण करते ही क्या और कैसा रूप ले लेता है—यह दा

नाटक मे पति-पत्नी सबधों की दरारो और विडम्बनाओं को हल्के-फुल्के चुटकलों और मजाकों के द्वारा अतीत और वर्तमान के अतराल को मिटाकर बयान की गई है। एक दूसरे के लिए मर मिटने वाले 'कैस' और 'लैला' के प्रेम-विवाह से यह नाटक शुरू होता है और टूटते हुए सपनो तथा बिखरती हुई अपेक्षाओं से कल्पना और यथार्थ का सघर्ष दर्शाता हुआ 'जिन्दगी समझौतों का दूसरा नाम है' जैसे परम्परित निष्कर्ष पर पहुंचता है। नाटक की संरचना काफी ढीली-ढाली है और उसमे आपातकालीन स्थिति से संबधित कुछ प्रसंगों-संदर्भों के मजाकों से उसे रोचक बनाने की कोशिश की गई है। परन्तु निश्चित, स्पष्ट दृष्टिकोण और लक्ष्य के अभाव में नाटक कही टिक नहीं पाता और भानुमती का पिटारा बन जाता है। इस कमजोर नाट्यालेख को प्रस्तुतीकरण मे काफी संभालने की कोशिश की गई और इसमे लैला, कैस (मजनूं), मौलवी तथा लैला की मा के रूप में क्रमशः नीना गुप्ता, विवेक स्वरूप, सुभाष गुप्ता तथा उज्मा किदवई ने काफी योगदान दिया। निरूपमा मेहता, अश्विनी कुमार, प्रेम भाटिया और मोहिनी माथुर भी ठीक ही रहे। सिगीवाली की छोटी-सी गौण भूमिका में नादिरा जहीर बब्बर ने सर्वाधिक प्रभावित किया। अजीज कुरैशी का तीन अभिनय-क्षेत्रों वाला प्रतीकात्मक दृश्य-बंध तथा वस्त्र-विन्यास और ओ० पी० कोहली के प्रकाश-संयोजन ने वातावरण-निर्माण में पर्याप्त सहायता की। परन्तु समग्रत यह नाटक कोई उत्तेजक नाट्यानुभूति नही दे पाया और इसकी अनिमुखरता तथा दृष्टिहीनता ने गम्भीर दर्शकों को काफी निराश किया।

फरवरी १६७७ में श्रीराम कला केन्द्र, दिल्ली द्वारा आयोजित राष्ट्रीय नाट्य समारोह के अन्तर्गत 'रूपरेखा' बम्बई द्वारा 'प्रस्तुत' और चर्चित गोविन्दा देशपाडे के मराठी विचार-नाटक उद्ध्वस्त धर्मशाला के वसत देव द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद को (पिछले दिनों १६ से २२ मई तक) राजिन्दर नाथ के निर्देशन मे दिल्ली की प्रसिद्ध नाट्य-संस्था 'अभियान' ने श्रीराम कलाकेन्द्र के तलघर मे प्रस्तुत किया। यह नायक-(शास्त्रीय अर्थों मे नही) प्रधान नाटक है और इसका नायक है प्रगतिशील या कहे मार्क्सवादी विचारधारा का संवेदनशील, ईमानदार, प्रखर व्यक्तित्व सम्पन्न, परन्तु तथाकथित अर्थों मे असफल, एक विश्वविद्यालयी प्रोफेसर श्रीधर कुलकर्णी। मूलतः राजनैतिक और प्रत्यक्षतः शैक्षणिक-सत्ताधिकारियों का विचार है कि विश्वविद्यालय-परिसर की लगातार बढती हुई अशान्ति और गडबड़ी के पीछे श्रीधर और उसकी विचारधारा का जबर्दस्त हाथ है। आरम्भ से लेकर अतिम लघु-दृश्य से पहले तक (दो-तीन फ्लैश-बैक दृश्यों को छोडकर), यह सारा नाटक प्रोफेसर पर लगाए गए आरोपों की "अनौपचारिक" जांच-पड़ताल और श्रीधर के पैने, सटीक और व्यंग्यात्मक उत्तरों पर आश्रित है। तहकीकात करने वालों में उपकुलपति जाम्भेकर, प्रोफे-

सर क्षीरसागर और प्रो० पी० वाई (एम० एल० सी०) प्रमुख है जो व्यक्तिगत रूप से श्रीधर के व्यक्तित्व और कृतित्व से भली-भाति परिचित हैं। नाटक सवाद-बहुल है और मुख्यत. वाद-विवाद के द्वारा ही विकसित (!) होता है। जाँच-पड़ताल समिति के सदस्यों के कथनों, व्यवहारो और आरोपो मे नाट्य-विडम्बना भरी पड़ी है, फिर भी नाटक का सबसे जीवन्त और उत्तेजक अंश वे पूर्व-घटित दृश्य है जो सदस्यो की फरमाइश पर श्रीधर पेश करता है। इनमे से भी 'पार्टी' सदस्य पत्नी सरस्वती और संवेदनशील स्वतन्त्र चिन्तक पति श्रीधर के बीच का दृश्य--लेखन और प्रस्तुति--दोनों दृष्टियों से--सर्वश्रेष्ठ है। फ्लैश-बैक के दृश्य इस बात को रेखांकित करते है कि अपने विचारों और मूल्यों के लिए संघर्ष करता हुआ एक ईमानदार और सच्चा आदमी किस प्रकार धीरे-धीरे अपने सम्बन्धियो, मित्रो, परिचितों, सहयोगियों और पत्नी तथा प्रेमिका से टूटता हुआ एकदम अकेला पड़ता चला जाता है। वह अपने जीवन की असफलता, उद्ध्वस्तता और त्रासदी के बावजूद हारता नही है। परन्तु अन्तिम दृश्य में अपने बेटे मे एक नये 'श्रीधर' का चेहरा देखकर वह काप उठता है और आत्मसाक्षात्कार के उन क्षणों मे वह अपने पुत्र से अपने रास्ते मे भिन्न एक नया रास्ता तलाशने का आग्रह करता है और किसी भी तरह उससे प्रेमिका को पा लेने की बात कहता है। बेटे की प्रेमिका के स्वय लौट आने के आशावादी संकेत से नाटक समाप्त होता है।

तीन भागों में बँटा दृश्य-बंध कल्पनापूर्ण था। केन्द्रीय भाग में नाटक का प्रमुख अंश प्रस्तुत किया गया तथा दर्शकों की दृष्टि से थोडा आगे की ओर दाए भाग मे पिता की मृत्यु के बाद श्रीधर के साथ निकट सम्बन्धियों तथा पत्नी के दृश्यों एव एकदम पीछे बाईं ओर प्रेमिका-सहयोगी माधवी तथा पुत्र के दृश्यों को मंचित करके दृश्य-बंध का संतुलन बनाए रखा गया। वर्तमान और अतीत के दृश्यों के अन्तर को बनाए रखने मे ओमपुरी (श्रीधर) के अभिनय के साथ-साथ सितांशु मुखर्जी तथा सुशील बैनर्जी की प्रकाश-व्यवस्था ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रो० श्रीधर कुलकर्णी के जटिल और बहुआयामी चरित्र को ओमपुरी ने जिस दक्षता और कल्पनाशीलता से निभाया वह अपने आप में एक सुखद और स्मरणीय अनुभव था। सरस्वती के रूप में पवन सिक्का ने भी अपनी छोटी-सी भूमिका मे ही जान पैदा कर दी। उपकुलपति के रूप में जयंतदास, प्रो० बी० वाई और प्रो० क्षीरसागर के रूप मे सुभाष गुप्ता एव गुलशन कुमार तथा माहड्डू काका, सादू काका तथा माधवी की भूमिकाओं में क्रमशः भूपेन्द्र कुमार, तिलक वालिया और रजना ने सराहनीय अभिनय किया। रजिन्द्रर तथा पुत्र के रूप में शैलेन्द्र और दलीप सूद भी निभा ले गए। राजिन्दर नाथ का निर्देशन साफ-सुथरा और सधा हुआ था परन्तु अंतिम दृश्य की शिथिलता और कमजोरी को वह भी संभाल नही पाए। अन्तिम दृश्य को

छोड दें तो अपनी एकरसता और संवाद-बहुलता के बावजूद यह एक उत्तेजक और दर्शनीय नाटक था।[1]

"......वासना के ये सब क्रुद्ध शरीर रूप। अनादि रूप। नारी का चिरन्तन सौन्दर्य और चंचलता। लाली तुम्हारी रग-रग से उफन कर बहने वाला वासना का प्रवाह मेरे शिल्पी की नसों में से फूटेगा...।" ये शब्द हैं महेश एल्कुचवार के विवादास्पद और सम्भवतः इसी कारण बहुचर्चित नाटक **वासनाकांड** (हिन्दी अनुवाद : सुदेश स्याल) के, जिसे 'दर्पण' की ओर से जमील अहमद और ज्योतिस्वरूप के निर्देशन में २१ और २२ मई को यहां प्रस्तुत किया गया। नाटक नैतिकता, कला-धर्म और जीवन-मूल्यों के स्तर पर कुछ उत्तेजक सवाल उठाता है, इसलिए नये रंगकर्मी का उसके प्रति सम्मोहन स्वाभाविक ही है। मूर्तिकार हेमकांत और उसकी बहिन ललिता उर्फ लाली के अनैतिक शारीरिक सम्बन्धों की अपराध ग्रन्थि से उत्पन्न सतान (चाहे वह हेमकांत की मूर्तिया हों या उनका बच्चा) निर्जीव ही हो सकती थी। कला के शरीर और उसकी आत्मा के महत्वपूर्ण शाश्वत प्रश्न से जूझता हुआ यह नाटक वासना अथवा शरीर या कला की दृष्टि से शिल्प को ही अंतिम सत्य मान लेने की त्रासदी को रेखांकित करता है। जमील अहमद का दृश्य-बंध सादा और कल्पनापूर्ण था परन्तु वह अपेक्षित सघन वातावरण और उपयुक्त सौन्दर्य पैदा नही कर सका। ज्योति-स्वरूप का संवाद-उच्चारण अति भावुकतापूर्ण था। संवादों के अंतिम शब्द कुछ इस प्रकार खींचकर भारी आवाज में बोले गए जैसे रोने को रोकने में असमर्थ व्यक्ति बोलता है। विशेषतः पूर्वार्द्ध में संवाद-उच्चारण का यह ग्राफ बहुत गलत और असगत था। पात्र की आयु के हिसाब से भी ज्योतिस्वरूप काफी छोटे लगे। ललिता के रूप में राजकिरण कौल ने प्रभावित किया। और 'लड़की' के बहुविध प्रयोग (अन्तश्चेतना से लेकर देवी तक) और कलात्मक अभिनय के लिए अमरदीप चड्ढा के साथ-साथ निर्देशकों का योगदान भी कम नही है। भीड़ के समूह-नृत्य और उनकी गतियां अच्छी थीं। रवि शर्मा की प्रकाश-योजना अत्यधिक मुखर होने के बावजूद कल्पनापूर्ण और नाटक के बदलते मूड के अनुकूल थी। विशेषतः अंतिम दृश्य में पेड़ की सूखी डालें (मूर्तियां) विशिष्ट प्रकाश-व्यवस्था में पैनोरामा पर परछाइयों के रूप मे भूसे पंजों का आभास दे रही थी, जो बहुत प्रभावशाली था। पार्श्व-ध्वनियों के प्रसारण में टैप-रिकार्डर के खुलने-बंद होने की आवाज तथा देवी के आगमन के समय ध्वनि-प्रभावों का विलम्ब से आना भी स्पष्टतः दोषपूर्ण ही था।

---

१. ध्यातव्य है कि संगीत-नाटक अकादमी पुरस्कार समारोह के अन्तर्गत प्रदर्शित इसकी नयी प्रस्तुति में अंत को काफी हद तक सँभाल लिया गया था।

ज्योतिस्वरूप मे उतावलापन और एक प्रकार का अधैर्य है, जो प्राय: उनके प्रस्तुतीकरणों में देखने को मिलता है। इस प्रस्तुतीकरण के पर्याप्त प्रभावशाली न हो पाने का एक कारण जहा पूर्वाभ्यास और मँजाव का अभाव है वही इसकी असफलता का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण छिपकली की कटी हुई पूछ की तरह अलग से लटकता हुआ इसका अंत है। भीड द्वारा ललिता को पकड़ कर ऊपरी मच की वेदी तक ले जाने और मारने के दृश्य पर यह नाटक कलात्मक स्तर पर समाप्त हो जाता है परन्तु प्रदर्शन में इसके बाद भी—निस्संदेह नाट्यालेख के आधार पर ही—नाटक को और आगे बढाना और अंत में एक प्रभावहीन तथा दुहरावपूर्ण चरमसीमा पर उसे समाप्त करना कतई युक्तिसंगत नही था। जिन दर्शकों ने कुछ वर्ष पूर्व आइफैक्स में इसका प्रदर्शन देखा था, उन्हें तो निस्सन्देह यह प्रस्तुतीकरण और भी फीका लगा होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

राजधानी की अपेक्षाकृत कम चर्चित नाट्य-संस्था 'यवनिका' ने अपने पूर्वप्रदर्शित, लोकप्रिय और चर्चित 'हारर प्ले' **कंकाल** के अतिरिक्त जे० पी० दास के नये नाटक **सबसे नीचे का आदमी** जैसे सामयिक और उत्तेजक उड़िया नाटक के श्रीमती काति देब द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद को मनोज भटनागर के निर्देशन में प्रस्तुत किया।

"लोगों की पसंद जैसी कोई चीज नही। लोगों की पसंद मैं बनाता हूं। जनमत जैसी कोई चीज नहीं, मैं जो लिख देता हू वह जनमत हो जाता है ······ मैं जिस ओर इशारा कर दूं जनमत भेडचाल की तरह भागता है।" अथवा "वे मेरे हाथ की कठपुतली हैं मैं उन्हे जैसा निर्देश देता हूं, वे उसी तरह से चलते है।" जैसी अहंमन्यता का शिकार पूंजीपति वर्ग जो जगत की अन्य भौतिक वस्तुओं की तरह साहित्य, कला और रंगमंच को भी हथियाए हुए है तथा अपनी इच्छा, मूड और आवश्यकता के हिसाब से कभी-कभी नये फैशन की तरह समाज के सबसे नीचे के आदमी का हिमायती और उद्धारक बनने का नाटक भी करता है; परन्तु जब वही आदमी एक समूह के रूप में जागरूक होकर उठ खड़ा होता है तो ये पूंजीपति वर्ग उसे मसल डालने के लिए कैसे-कैसे मसूबे बांधता है—प्रस्तुत नाटक इस वर्ग के इसी ढोंग का पर्दाफाश करता है। बुद्धिजीवी प्रोफेसर (जिसके लिए मौलिकता की चुनौती स्वीकारने की अपेक्षा शेक्सपियर के अनुवाद अधिक निरापद और सुविधाजनक है), नौकरपेशा युवक कुमार (जिसके लिए विवश-स्थिति मे फंसी हुई प्रेमिका के उद्धार और अपमानजनक दासता के बजाय मां-बाप की पसंद की लड़की से शादी करना और नौकरी का कन्फर्मेशन पाना अधिक महत्वपूर्ण है), मीना (जो दूसरों को विद्रोह के लिए भड़का कर भी साड़ी, गाड़ी और बगले के लिए बाबूजी की रखैल बनी रहना चाहती है और स्वयं निष्क्रिय अहिल्या बनी उद्धार के लिए किसी

राम की प्रतीक्षा करती रहती है)—सबके सब बाबूजी की 'रखैल' ही हैं, जो घुटन-तकलीफ और आक्रोश-विद्रोह की लम्बी-चौड़ी हवाई बातों के बावजूद कुछ कर नही सकते, कहीं जा तक नहीं सकते। परन्तु इसी व्यवस्था मे सबसे नीचे एक ऐसा आदमी भी है—रामू—जो पूरी वफादारी के साथ अपने स्वामी की सेवा करता है परन्तु अन्याय और अत्याचार की एक सीमा के बाद जो सीना तान कर और मुट्ठी बांध कर उठ खड़ा होता है क्योंकि उसको कुछ भी खो जाने का भय नहीं है—क्योंकि उसके पास खोने के लिए कुछ है ही नहीं। भविष्य इसी के हाथों में है। नाटक में नाटक-रचना वाले शिल्प का यह नाटक दूसरे अंक के अंत तक इसी बात को संकेतित करता है और कलात्मक स्तर पर अपने-आप मे सम्पूर्ण है परन्तु यथार्थ यहीं खत्म नही होता। क्योंकि पूंजीपति भी कम चालाक और होशियार नही है। मुखौटे बदल-बदल कर हर बार वह कैसे-कैसे छल करता है और निरंतर निरंकुश शासन करता चला जाता है—तीसरे अंक का यही कथ्य है। तीसरा अंक कलात्मकता और नाटकीयता दोनों दृष्टियों मे कमजोर है और अंत की दृष्टि से मोहित चैटर्जी के सुप्रसिद्ध नाटक गिनीपिग की याद दिलाता है। गांधी-वाणी पढ़ने वाले रामू (श्याम) की संगति हिंसक जुलूस के नायक से भी नही बैठती। प्रोफेसर की जटिल भूमिका को रवि वासवानी ने जिस समझदारी, संवेदनशीलता और कलात्मकता से प्रस्तुत किया है, वह इस प्रदर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। बाबूजी के रूप मे बनवारी तनेजा और रामू के रूप मे पंकज कपूर ने भी सधा हुआ अभिनय किया है परन्तु उनकी भूमिकाओं में विशेष संभावनाएं नहीं थीं इसीलिए वे अपनी प्रतिभा का कोई नया आयाम उद्घाटित नहीं कर पाए। अभय भार्गव और साधना भी सामान्यतः ठीक ही रहे। सुशील चौधरी की प्रकाश व्यवस्था तथा रोबिन दास की दृश्य-परिकल्पना प्रभावपूर्ण थी। कमियों के बावजूद यह एक अच्छा नाटक है क्योंकि नाटककार में अपना मुहावरा तलाशने और निजी पहचान बनाने की जो ईमानदार बेचैनी और रचनात्मक छटपटाहट है, वही इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है और भविष्य के प्रति आश्वस्त करती है।

स्पष्ट है कि गत मास की भांति इस बार भी यहां के हिन्दी रंगमच पर अनुवादों का ही जोर रहा जो हिन्दी के मौलिक नाटकों के लेखन और उनके प्रस्तुतीकरण की वर्तमान स्थिति के प्रति गम्भीरता से सोचने पर विवश करता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रादेशिक भाषाओं के ये अनुवाद भी किन्हीं महत्वपूर्ण उपलब्धियां को रेखांकित नहीं करते और आश्चर्य होता है यह देखकर कि अंत की शिथिलता की दृष्टि से सभी नाटक लगभग एक ही स्तर के थे।

(ग)

ग्रीष्म और वर्षाकालीन शिथिल रंगमच की लम्बी चुप्पी के बाद अब यहाँ नई कलियों के चटखने की खुशगवार सदाएं फिर से सुनाई दे रही हैं। पूर्वाभ्यासों का बाजार गर्म है और प्रेक्षागृहों में गहमागहमी है। प्रसन्नता का विषय है कि नये रंग-सत्र की शुरुआत युवा रंगकर्मियों के सार्थक रंग कार्य से हुई है। 'प्रयोग' की ओर से एम० के० रैना के निर्देशन में पिछले काफी दिनों से चुपचाप चलते-बढ़ते बादल सरकार के जुलूस ने इस बीच दिल्ली के सामान्य और विशिष्ट जन को समान रूप से प्रभावित किया है। प्रतिभा अग्रवाल द्वारा अनूदित यह नुक्कड़ नाटक अपने मूल रूप में बंद प्रेक्षागृह और सश्लिष्ट रगमंच की अपेक्षाओं से बंधा है। परन्तु रैना इस नाटक को दीवारों से घिरे प्रेक्षागृह और वैविध्यपूर्ण मायावी प्रकाश-व्यवस्था के चंगुल से निकालकर दिल्ली की सड़कों पर आम आदमी के बीच ले आए हैं। सम्भवतः व्यावहारिकता की दृष्टि से ही कोरस में लड़की के स्थान पर भी लड़का ही रखा गया है। और व्यापक प्रभविष्णुता की दृष्टि से कोतवाल के सवादों को हरियाणवी बोली में बुलवाया गया है। बिना टिकिट और विज्ञापनादि के रंगोपकरण रहित यह उत्तेजक नाटक हमारी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और वैयक्तिक विडम्बनाओं की बखिया उधेड़ता है और आज की क्रूर एवं अन्यायी व्यवस्था को नगा करता है। अभिव्यक्ति के लिए मानवीय देह का अद्भुत उपयोग इसमें हुआ है। यह मोहभंग का एक तीव्र नाटक है। इसमें कोई 'रेडीमेड' समाधान नहीं है परन्तु उसे तलाशने की महत्वपूर्ण प्रेरणा अवश्य है। असम्भव परिस्थितियों में भी जीना अनिवार्य है क्योंकि जीकर ही खोजा जा सकता है—पाया जा सकता है। इसमें बच्चे के रूप में हबीब, बूढे के रूप में विवेक तथा गुरुदेव और कोतवाल के रूप में वेद प्रकाश एवं आदील राना की भूमिकाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

'प्रयोग' की ओर से एम० के० रैना के ही निर्देशन मे श्रीराम कला केन्द्र के तलघर में आइनेस्कोकृत प्रसिद्ध एब्सर्ड नाटक **दि लैसन** का प्रमोद झिगन द्वारा किया गया हिन्दी रूपान्तरण १०+२+३ प्रस्तुत हुआ। भाषा की सम्प्रेषण-सीमा की त्रासदी आइनेस्को का मूल कथ्य रहा है। यदि आप मानते हैं कि बलात्कार का सम्बन्ध केवल स्त्री-पुरुष की देह से ही नहीं है तो इस नाटक की ध्वनियां आपको बहुत दूर तक खींच ले जायेंगी। अध्यापक जब भाषा पर अपने अधिकार की शक्ति के द्वारा विद्यार्थी की सीमा, सामर्थ्य और संवेदना (दांत के दर्द) की परवाह किए बिना उस पर हावी होने की कोशिश करता है तो वह किसी शक्तिशाली देश द्वारा अपने से कमजोर देश पर जमाए गए आतंक और साम्राज्यवाद का ही एक और स्तर-मात्र होता है। इस नाटक में प्रोफेसर सत्ता का प्रतीक है तो शिष्या सामान्य जन या

मानवता की प्रतीक है। रैना ने नाटक को कुछ मुखर सामयिक संदर्भों से जोड़ने का रोचक प्रयास भी किया परन्तु हत्या का दृश्य सर्वाधिक प्रभावपूर्ण रहा। प्रोफेसर पर लाल प्रकाश और शिष्या को चाकू की ओर एकटक देखने का आदेश सम्मोहक तांत्रिक क्रिया का सा असर डालता था। शिष्या के रूप में अजली का अभिनय सर्वश्रेष्ठ रहा और प्रोफेसर के रूप मे वीरेन्द्र भी काफी हद तक निभा ले गए। परन्तु लक्ष्मी की भूमिका में श्यामली नही जमी। दृश्य-बंध भी अभिनय में बाधक रहा और दर्शकों को चारो ओर बैठाने का प्रयोग इस नाटक की मूल आत्मा के अनुकूल सिद्ध नही हुआ। मेरा विश्वास है कि परम्परित ढग से मंच पर प्रस्तुत किए जाने पर यह नाटक निस्संदेह अधिक प्रभावपूर्ण हो सकता है।

इसी बीच राजधानी की नवगठित नाट्य-संस्था 'नागरिक' द्वारा सतीश कौशिक के निर्देशन मे शकर शेष के चर्चित नाटक **एक और द्रोणाचार्य** की रोचक प्रस्तुति भी हुई। मध्यम वर्गीय व्यक्ति के समझौतावादी चरित्र की विडम्बना और त्रासदी को नाटकीय अभिव्यक्ति देने के लिए नाटककार ने आज के एक प्राइवेट कालेज के आदर्शवादी तथा संवेदनशील प्रोफेसर अरविन्द और महाभारत काल के प्रख्यात आचार्य एवं महान् योद्धा द्रोणाचार्य के जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसगों को समान्तर रूप मे प्रस्तुत करके उनके बाह्य जीवन के उत्थान और आन्तरिक जीवन के पतन की करुण कहानी प्रस्तुत की है। सत्ता से जुड़ना यदि एक ओर व्यक्ति को पद, सम्मान, सुविधा और सुरक्षा देता है तो दूसरी ओर वह उसे चारित्रिक, आत्मिक और नैतिक दृष्टि से खोखला और नपुंसक भी कर देता है। नाटककार के अनुसार एक ईमानदार और सच्चा व्यक्ति अपने अस्तित्व पर चारो ओर से पड़ने वाले पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दबावों के घातक तनावों से मुक्ति पाने के लिए विवश होकर ही सत्ता के सामने समर्पण करता है और कालान्तर में स्वय उसी के लिए इस चक्रव्यूह को तोड़ना असम्भव हो जाता है। अध्यापक के साथ इस स्थिति की एक और विडम्बना यह भी है कि उसका पतन केवल उसका न होकर आने वाली पीढ़ी का भी पतन बन जाता है और इस प्रकार वह अपने देश तथा समाज के भविष्य की हत्या का कारण बनता है। प्रस्तुति के आरम्भिक अंश में अरविन्द और लीला के रूप में रूप कुमार रायदान तथा मृदुला कौशिक ने पति-पत्नी के बीच के रोष, तनाव और असतोष को बडी जीवन्तता से प्रस्तुत किया। सतीश कुमार का यदु भी बहुत प्रखर और सच्चा लगा। परन्तु आरम्भ में 'टैम्पो' यदि कुछ नीचा होता तो शायद बाद में उसे बढ़ाना और अंत तक निभा ले जाना ज्यादा आसान हो जाता। द्रोणाचार्य तथा कृपी की भूमिकाओं मे अनुपम खेर और अनीता कँवर ने प्रभावित किया। विमलेन्दु के प्रेत तथा चद्गू के रूप में अनंग देसाई एवं सुहास खण्ड के अभिनय मे भी आत्म-विश्वास था। परन्तु रह-रहकर

पूर्वाभ्यास की कमी का एहसास होता था और संवादों में वाणी-स्खलन झुंझलाहट पैदा करता था। अविनाश डोगरा का यथार्थवादी दृश्य-बंध यूं तो सुन्दर था, परन्तु बहुत सार्थक सिद्ध नहीं हुआ। मंच के आधे-आधे भाग में चलते दृश्य दूसरी ओर के दर्शकों के लिए असुविधाजनक एवं अल्प दर्शनीय बने रहे। अच्छा होता यदि इन्हें दाएँ-बाएँ भागों में प्रस्तुत करने के बजाए आगे-पीछे प्रस्तुत किया जाता। अतीत के दृश्यों को भिन्न अभिनय शैली में दिखाना भी अधिक आकर्षक हो सकता था। फिर भी, पंकज सक्सेना की कल्पनाशील प्रकाश-योजना के कारण वर्तमान और अतीत के दृश्य एक-साथ सफलतापूर्वक प्रस्तुत किए जा सके। प्रथम अंक में से लीला और प्रिंसिपल के लम्बे दृश्य को पूर्णतः काटकर उसे मात्र मूकाभिनय द्वारा प्रस्तुत करना प्रभावपूर्ण युक्ति थी—अच्छा होता यदि निर्देशक ने युद्ध और द्रोणाचार्य की मृत्यु वाले अंतिम लम्बे दृश्य का भी सम्पादन कर लिया होता।

संस्था के प्रथम प्रयास को देखते हुए, कुछेक कमियों और कमजोरियों के बावजूद कुल मिलाकर निर्देशक और अन्य कलाकारों की गम्भीरता ने आशान्वित और प्रभावित किया।

ज्ञानपीठ पुरस्कार वितरण समारोह के अवसर पर इस वर्ष श्री पी० वी० अखिलन्दम् (अखिलन्) के पुरस्कार-जेता उपन्यास चित्तिरप्पावै को हिन्दी के युवा नाटककार निर्देशक सुरेन्द्र वर्मा के आलेख, संगीत एवं निर्देशन में चित्रित प्रतिमा के नाम से प्रस्तुत किया गया। दृश्य-बंध रॉबिन दास का था और प्रकाश-संयोजन आर० के० धींगरा का। कलाकार की संवेदनशीलता तथा दुनियादार आदमी की चतुर व्यावहारिकता के चिरन्तन संघर्ष पर आधारित इस नाट्यालेख को पंकज कपूर, रंजीत कपूर, राज बब्बर, सुषमा सेठ, नादिरा बब्बर, दीपक केजरीवाल, अनुपम खेर, कविता चौधरी, मीना तथा रमेश मनचंदा जैसे जाने-माने श्रेष्ठ कलाकार भी प्रभावपूर्ण नहीं बना पाए। गत वर्ष का अनुभव भी लगभग ऐसा ही था। इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण साहित्य की विविध विधाओं की माध्यमगत विशेषताओं और सीमाओं पर विचार करने को बाध्य करते हैं। मेरे विचार से इस प्रस्तुति की रसहीनता का प्रमुख कारण उपन्यास में नाटकीय प्रसंगों की न्यूनता तथा समारोह में प्रदर्शन-समय की अव्यावहारिक सीमा है। फिर भी, विवरणात्मक कथा अंशों को विविध पात्रों द्वारा 'स्पॉट लाइट' में बुलवाकर उन्हें मूल नाटक में नियोजित करने का प्रयोग अच्छा लगा।

जन-नाट्य-मंच की ओर से २४-२५ सितम्बर को असगर वजाहत के ऐतिहासिक-राजनैतिक नाटक फिरंगी लौट आए के पुनर्प्रदर्शन हुए। ये नाटक १८५७ के जन-विद्रोह की असफलता के संदर्भ में आम आदमी और आजादी के लिए उसकी सतत लड़ाई को विफल करने वाले षड्यन्त्रकारियों को बेपरदा करता है। नाटक के आरम्भ में 'लड़ाई जारी है' वाला कोरस प्रभावपूर्ण है

तथा प्रस्तुति को समकालीन संगति देता है। नाचा का दृश्य, कोर्ट-प्रसंग और मुल्ला अमानत की हत्या के दृश्य प्रभावपूर्ण हैं। **घासीराम कोतवाल** की तरह, इसमें भी कोरस का उपयोग प्रायः दृश्य-परिवर्तन के लिए किया गया। परन्तु यहाँ पीछे से वस्तुओं का हटाना-लगाना अवधान को खण्डित करता है और दर्शक की एकाग्रता को तोड़ता है।

मंच-सज्जा साफ-सुथरी तथा व्यावहारिक थी। केवल एक लालटेन के माध्यम से गाँव के वातावरण को प्रतिष्ठित करना कल्पनापूर्ण था। यूँ तो राकेश सक्सेना, अरुण शर्मा तथा मनीष मिनोचा ने भी प्रभावित किया परंतु नाटक की रीढ़ थे—विनोद नागपाल। निर्देशक और अन्य पार्श्वकारों के नामों को परिचय-पत्र में न देने का कोई न्याय-संगत कारण समझ में नहीं आता। नाट्यालेख शिथिल और कमज़ोर है। मुल्ला अमानत की हत्या के बाद लड़ाई जारी रहने का कोई भी संकेत नाटक में नहीं है, इसलिए अंत में इसका गान आरोपित और असंगत प्रतीत होता है। फिर भी, *जान बुल* के रूप में इस पिटे हुए नाटक को पुनर्जीवित करने के लिए निर्देशक (निर्देशिका ?) की प्रशंसा की जानी चाहिए।

राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय की ओर से ज्योतिस्वरूप के निर्देशन में **राधा, रोजी और रुखसाना** का प्रदर्शन किसी भी दृष्टि से विद्यालय के स्तर के अनुकूल नहीं था। आर० के० राजदान एक अच्छे अभिनेता हैं परन्तु यहाँ वह भी फीके रहे। हाँ, अम्बिका के रूप में अनीता कँवर अपनी नगण्य-सी भूमिका के बावजूद असरदार रहीं। दृश्य-बंध पर ज्योतिस्वरूप के चित्र का कारण भी समझ में नहीं आया और नाटक के आरम्भ तथा अंत में उसे जिस प्रकार आलोकित किया गया उससे ऐसा लगा कि नाटक का नाम ही 'ज्योति स्वरूप' (*या संजय ?*) क्यों नहीं है ? मीना जे० एस० तथा ममता अहमद के नाम से प्रचारित यह नाटक मूलतः **बोइंग बोइंग** पर आधारित है, परन्तु उसका नामोल्लेख तक कहीं नहीं किया गया। फिर भी, अनेक खामियों के बावजूद यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि अनेक स्थलों पर यह नाटक दर्शकों को हँसाने-गुदगुदाने में सफल रहा और हल्के-फुल्के मनोरंजन की दृष्टि से दर्शनीय भी कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय के रंगरत वर्ग की ओर से रंजीत कपूर के निर्देशन में प्रस्तुत नाटक **बेगम का तकिया** केवल इन चर्चित नाटकों में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की ओर से प्रस्तुत अत्यन्त महत्वपूर्ण नाटकों में से भी एक माना जाना चाहिए। पं० आनन्द कुमार के उपन्यास पर आधारित इस *देहाती नाटक* का नाट्य-रूपांतरण भी रंजीत कपूर ने ही किया है। राजमिस्त्रियों की यह महाकाव्यात्मक कथा उन्हीं की भाषा और उन्हीं के बेलाग अंदाज़ में प्रस्तुत की गई है। प्रदर्शन अवधि की दृष्टि से पर्याप्त लम्बी

तथा कथा-प्रसंगों की दृष्टि से जटिल होने के बावजूद यह प्रस्तुति जीवन के लौकिक और अलौकिक धरातलों को एक साथ छूती हुई एक गम्भीर, सार्थक, उत्तेजक और रोचक अनुभव देती है। नीम पागल से दीखने वाले एक सच्चे, ईमानदार और खरे इंसान के रूप में पीरा की भूमिका के० के० रैना के कलाकार की एक बड़ी उपलब्धि है। दरियाशाह के रूप में एक अवास्तविक और स्थिर-से पात्र को जीवन्त करने का श्रेय राजेश विवेक को जाता है। अमीना के रूप में मधु मालती मेहता, रौनक बेगम के रूप में उत्तरा बावकर तथा बुन्दू के रूप में राम गोपाल बजाज ने श्रेष्ठ अभिनय किया। सुधीर कुलकर्णी (अल्ला बंदे) एवं रघुवीर यादव (सबरंग) ने अपने हाव-भाव, चाल-ढाल, संवाद-प्रस्तुतीकरण तथा 'परफैक्ट टाईमिंग' के कारण दर्शकों का मन मोह लिया। जी० एन० दासगुप्ता एवं जी० एस० मराठे की कल्पनापूर्ण प्रकाश-योजना तथा नीलम शर्मा की संगीत-परिकल्पना नाटक की मूल चेतना के सर्वथा अनुकूल है। लोक-धुनों का वैविध्यपूर्ण उपयोग आकर्षक है। मेघदूत के विराट् दृश्य-बंध का शायद ही कोई कोना हो जो निर्देशक की पैनी नजर से अछूता छूटा हो। नाटक के आशावादी अंत के विषय में जब मैंने रंजीत कपूर से प्रश्न पूछा तो उन्होंने मुझे बताया कि, "बाहरी यथार्थ और तथ्य के धरातल पर निःसंदेह आदमीयत हारती हुई दिखाई देती है परन्तु मुझे आदमी और उसकी संघर्ष की ताकत पर अटूट विश्वास है। उसकी सामूहिक-शक्ति पर भरोसा है। नाटक की तैयारी के दौरान नजीर अकबराबादी की ये पंक्तियाँ अक्सर मेरे दिमाग में कौंधती रहीं—

यों आदमी पे जान को वारे है आदमी
और आदमी पे तेग को मारे है आदमी
पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी
और सुनके दौड़ता है सो है वो भी आदमी

इसी आदमी का चित्रण मेरा मकसद है। मैं किसी वाद या सिद्धांत का बिल्ला नहीं लगाना चाहता। सिर्फ इतना मानता हूँ कि—

अब रसूल आयेंगे दुनिया में न राम आयेंगे।
सिर्फ इन्सान ही इन्सान के अब काम आयेंगे॥

और इसीलिए मैंने नाटक के अंत को दुबारा लिखवाया। इतिहास गवाह है कि अंतिम विजय इंसानियत की ही होती है। सिर्फ आस्था और विश्वास के साथ एक संगठित संघर्ष की ज़रूरत है!"

बेगम का तकिया देखकर ऐसा नहीं लगता कि अल्काज़ी अब स्कूल में नहीं हैं। मेरा विश्वास है कि निर्देशक के रूप में रंजीत कपूर हिन्दी रंगमंच की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध होंगे।

(घ)

सर्दी राजधानी के रंग-कार्य की अद्भुत बैरोमीटर है। ठण्ड के कारण पारे का स्तर जैसे-जैसे नीचे गिरता है वैसे-वैसे यहां नाटक और रंगमंच की गतिविधियां भी ज़ोर पकड़ती जाती हैं। नवम्बर मास में भोपाल के रजत नाट्य समारोह से लौटे दलों ने यहां तीन क्लासिक नाटकों के प्रदर्शन किए। रवीन्द्रनाथ टैगोर के सुप्रसिद्ध बंगला काव्य-नाटक **मुक्तधारा** को एम० के० रैना ने और शूद्रक के कालजयी—बहुचर्चित संस्कृत नाटक **मिट्टी की गाड़ी** को हबीब तनवीर ने लोक रंगशैली में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया तो आरिस्टोफिनीस की मशहूर यूनानी कामदी **लिसिसट्रेटा** को राजिन्दर नाथ ने पहली बार हिन्दी रंगमंच पर प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त किया। बंबई की रंगसंस्था 'आविष्कार' की ओर से गोविंद देशपांडे के मराठी नाटक **उद्ध्वस्त धर्मशाला** के वसंत देवकृत हिन्दी अनुवाद की अनिल चौधरी के निर्देशन में प्रभावपूर्ण प्रस्तुति हुई, जिसमें ओमपुरी, नसिरुद्दीन शाह, नरेश सूरी तथा रोहिणी हटंगडी का अभिनय विशेष उल्लेखनीय रहा।

दिसम्बर मास के आरंभ में विजय तेंदुलकर के विवादास्पद एवं उत्तेजक नाटक गिद्ध को 'अभिकल्प' ने गुलशन कुमार के निर्देशन में प्रस्तुत किया। परिस्थितियों की क्रूरता और मानव स्वभाव में अनेक स्तरों पर दूर तक पैठी हिंसा की भावना को परत-दर-परत नंगा करते हुए, नाटककार हमारा साक्षात्कार एक ऐसे परिवार (संसार) से कराता है जिसमें सभी पात्र अपने-अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए एक दूसरे को खूंखार गिद्धों की तरह नोच-फाड़ खाने को तैयार बैठे हैं। रिश्तों का सम्बन्ध सिर्फ सम्बोधनों की सुविधा तक रह गया है। गाली-गलौच, मारपीट, ब्लेकमेल, हत्या—भ्रूणहत्या, सैक्स और नशाखोरी से भरपूर यह भयंकर नाटक दर्शक को परेशान और बेचैन करके मानव संबंधों और मूल्यों की प्रासंगिकता एवं सार्थकता पर फिर से सोचने के लिए बाध्य करता है। एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ दृश्य-बंध दर्शकों के लिए कहीं-कहीं असुविधाजनक अवश्य था परन्तु निर्देशक ने लगभग सभी अभिनय-स्थलों का रोचक प्रयोग करके अपनी कल्पनाशीलता का अच्छा परिचय दिया। यद्यपि पापा के रूप में सुरेन्द्र शर्मा एवं रमाकांत और उमाकांत के रूप में गुलशन कुमार तथा कमल वर्मा ने भी अपनी-अपनी भूमिकाओं के साथ पूर्ण न्याय किया परन्तु अभिनय की दृष्टि से इस प्रस्तुति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी उर्वरा कोख के बंजर वीरानों की त्रासदी का अभिशाप झेलती और फिर भी अमानवीयता के घने अंधकार में प्रकाश-पुष्प सी खिली रमा की कठिन भूमिका जिसे मानिक कोतवाल ने पूरी जीवन्तता और प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया। मानिक के रूप में प्रेमलता ढींगरा सामान्य थी तो रजनीनाथ की भूमिका में श्रीदत्त शर्मा भी अपने चरित्र के काव्यत्व, आत्म-सम्मान और दर्द को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे। प्रकाश-व्यवस्था में भी कहीं-

कहीं गड़बड़ी रही। परन्तु अपनी कमियों और सीमाओं के बावजूद यह एक बेबाक और उत्तेजक प्रस्तुति थी। गुलशन की गंभीरता अब आश्वस्त करने लगी है।

इस रंग वर्ष के अंतिम दौर की उल्लेखनीय प्रस्तुतियां रही **बल्लभपुर की रूपकथा** तथा **रुस्तम सोहराब**। 'हम' द्वारा रौबिन दास के निर्देशन मे बादल सरकार का हास्य-नाटक **बल्लभपुर की रूपकथा** एक सुखद एव मनोरंजक अनुभव था। अपनी जीर्ण-शीर्ण खानदानी भुतही हवेली को जैसे-तैसे बेचकर कर्ज मुक्त हो नया जीवन आरंभ करने को लालायित बल्लभपुर के राजवंशज भूपति की भूमिका के साथ रौबिन दास न्याय नही कर सके। निरर्थक भागदौड़ और अस्पष्ट संवादों के कारण नाटक का आरभिक अश शिथिल रहा। यद्यपि साहू के रूप में दीपक केजरीवाल, श्रीनाथ के रूप में आदिल तथा मनोहर के रूप में वीरेन्द्र सक्सेना ने भी अच्छा अभिनय किया परन्तु वास्तव मे इस नाटक को जमाने का पूरा श्रेय पुरातत्व प्रेमी हाल्दार के रूप मे रवि वासवानी को ही मिलना चाहिए। उनके मित्र/मैनेजर संजीव की भूमिका मे विनोद कुमार ने भी उनका पूरा साथ दिया। रवि के सवाद, हावभाव, उनकी गतिया और मुद्राए दर्शकों को लोट-पोट कर गईं। हाल्दार की पत्नी स्वप्न तथा बेटी छन्दा की भूमिकाओं मे क्रमश. अपर्णा एवं नीना गुप्ता भी अपने चरित्रों को उभारने मे सफल रही जबकि हाल्दार के व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्वी चौधरी के रूप मे आलोपी वर्मा हल्के रहे। रौबिन दास के दृश्य-बंध में पुरानी हवेली की टूटन, फैलाव और बिखराव तो था परन्तु नाटकीय दृष्टि से वह बहुत व्यावहारिक सिद्ध नही हुआ। अनेक स्थानो पर हवेली का बिखराव प्रस्तुति का बिखराव बन गया। कुल मिलाकर, यह नाटक अन्ततः रवि वासवानी की अविस्मरणीय भूमिका के कारण ही विशेष उल्लेखनीय रहा।

आगा हश्र कश्मीरी के सुप्रसिद्ध एव अपने समय के अत्यन्त लोकप्रिय नाटक **रुस्तम सोहराब** को अनिल चौधरी ने पारसी रंग-शैली मे 'हम' की ओर से ही प्रस्तुत किया। अप्रतिम योद्धा रुस्तम के रूप मे राजेश विवेक ने अपनी भरी हुई देह और भारी आवाज का भरपूर उपयोग किया। आरभिक सवादों की अस्पष्टता और जल्दबाजी पर उन्होंने जल्दी ही काबू पा लिया और अत तक पहुंचते-पहुचते अपनी प्रतिभा और प्रतिभा के अनुकूल प्रभाव छोड़ने में सफल हो गए। सोहराब के रूप मे रूपकुमार राजदान तथा पीलसम के रूप में अनुपम खेर ने भी प्रशसनीय अभिनय किया। परन्तु देश-द्रोही, चालबाज, घोर स्वार्थी और बेशर्म कमीने अदावत की भूमिका मे सतीश कौशिक छोटी-सी भूमिका के बावजूद अपने हास्य, आंखों के अंदाज और कुछेक शब्दों के विशिष्ट उच्चारण के कारण अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुए।

देश-प्रेम और व्यक्तिगत प्रेम के द्वन्द्व को जीवन्त करने में आफरीद के रूप में कविता चौधरी तथा रुस्तम की प्रेमिका और सोहराब की माँ के रूप मे

नादिरा बब्बर ने तहमीना के चरित्र को सजीव करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। पारसी शैली की मोहक रंग सज्जा, आकर्षक गीत-नृत्य, अभिनयगत आवेश, उत्तेजना और चमत्कार की कमी के कारण कुछेक अच्छे प्रेम, युद्ध और करुण दृश्यों के बावजूद यह प्रस्तुति कोई उत्तेजक प्रभाव नहीं छोड़ पाई।

'एग्रो-एक्सपो ७७' में सूचना एवं जन संपर्क विभाग, उत्तर प्रदेश की ओर से ब्रज कला मण्डल द्वारा गिरिराज के निर्देशन में नौटंकी **सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र** प्रभावपूर्ण थी, जबकि यू० पी० फोक आर्ट की ओर से कानपुरी-हाथरसी मिश्रित शैली में डा० सालिगराम आर्य के निर्देशन में प्रस्तुत **अमरसिंह राठौर** अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाई। **प्रेमचन्द का गांव** शीर्षक से देवेन्द्र राज द्वारा प्रस्तुत **सवा सेर गेहूँ, पूस की रात** तथा **कफन** नामक प्रसिद्ध कहानियों का मचन कल्पनापूर्ण निर्देशन का सुन्दर नमूना था। 'अदाकार' का **पापी पुण्य** कमजोर आलेख तथा प्रभावहीन अभिनय-शैली के कारण जम नही सका तो सौंग एण्ड ड्रामा डिवीजन की ओर से वीरेन्द्र नारायण के निर्देशन मे प्रस्तुत **ग्राम का बगीचा** भी असतुलित कथा-विभाजन, शिथिल कार्य-व्यापार एवं निरर्थक पुनरावृत्ति के कारण फीका रहा। इसी बीच सुशील कुमार सिंह के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा पूर्व-प्रदर्शित नाटक **चार यारों की यार** को ज्योतिस्वरूप के निर्देशन मे प्रस्तुत किया गया जो ज्योतिस्वरूप, राजदान और सतीश कौशिक के सधे अभिनय के बावजूद बेअसर रहा।

'रुचिका वीकएण्ड थ्येटर' के अन्तर्गत अरुण कुकरेजा के निर्देशन मे प्रस्तुत ज्ञानदेव अग्निहोत्री के बहुचर्चित राजनीतिक व्यग्य-नाटक **शुतुरमुर्ग** तथा फैजल अल्काजी के निर्देशन मे स्ट्रिंडबर्ग के सुप्रसिद्ध नाटक **दि फादर** (हिन्दी अनुवाद : मोहन महर्षि) की प्रस्तुतिया गम्भीर, उत्तेजक और सार्थक रंगानुभूति देने में सफल रही। शुतुरमुर्ग मे दृश्य-बंध, प्रकाश-व्यवस्था तथा रूप-विन्यास परिकल्पना स्वयं निर्देशक अरुण कुकरेजा की थी, जिनके साथ नोना चावला के वस्त्र-विन्यास एवं दीपक गिडवानी की संगीत-योजना ने मिलकर समन्वित और तीव्र प्रभाव उत्पन्न किया। राजा और विरोधी लाल के प्रथम साक्षात्कार और टकराव के उत्तेजक दृश्य के अतिरिक्त विरोधी को सुबोधी बनाने में पिजरे का प्रयोग तथा शपथ ग्रहण समारोह में मन्त्रोच्चार की लय, भूख पर कलात्मक लेख लिखने, मरते हुए आदमी के करुण प्रसंग और राजा तथा मामूलीराम के बीच वार्तालाप वाले दृश्य में राजा के हाथों द्वारा शतरज के मोहरो एवं चालो का सकेत इस प्रस्तुति के स्मरणीय प्रसंग थे। वस्त्र-विन्यास, रूप-विन्यास तथा प्रकाश-योजना मे रगो का कलात्मक और रोचक प्रयोग किया गया। सूत्रधार तथा राजा की जटिल भूमिका को आलोक नाथ ने जीवन्त किया तो रानी के रूप में नोना चावला का शैलीबद्ध अभिनय भी कम प्रशंसनीय नही रहा। परमसत्यवादी महामंत्री के रूप मे उमेश फाल्केर की आवाज तो ठीक थी परन्तु गतियां गरिमापूर्ण नही थी। मामूलीराम के रूप

में फ़ैज़ल अल्काज़ी की मासूमियत आकर्षक थी परन्तु सवादो में वाणी स्खलन अखरता था। भाषण मंत्री, रक्षा मंत्री और विरोधी लाल की भूमिकाओं में क्रमशः नोना चावला, विनीत सूद तथा संजीव भार्गव ने अपने-अपने चरित्रो से पूर्ण न्याय किया। 'सत्यमेव जयते' के बहुविध नाटकीय प्रयोग तथा रोचक प्रस्तुतीकरण शैली के कारण शुतुरमुर्ग एक प्रासंगिक और उत्तेजक अनुभव सिद्ध हुआ।

अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक नाटक का मूल मानने वाले स्ट्रिंडवर्ग का नाटक दि फादर धर्म और विज्ञान, परिस्थिति और परिवार, स्त्री और पुरुष तथा स्वयं व्यक्ति के आन्तरिक सघर्ष को अत्यन्त नाटकीयता और प्रभविष्णुता के साथ प्रस्तुत करता है। मूल्यों और संबंधो के बदलते हुए रूपों को निर्देशक फ़ैज़ल अल्काज़ी ने कैप्टन तथा उसकी पत्नी लौरा के लगातार उलझते जाते रिश्ते के माध्यम से अपनी प्रस्तुति में पूरी तीव्रता से सम्प्रेरित किया। 'हाँ, मैं पागल हूँ, लेकिन मुझे पागल बनाया किसने ?' वल्दियत के सवाल के बहाने से पति-पत्नी सम्बन्धों के नरक का चित्रण इस नाटक का बुनियादी सरोकार है, जो बार-बार बहुत-बहुत बाद में लिखे गए राकेश के नाटक **आधे-अधूरे** की याद दिला जाता है। पवन मल्होत्रा का यथार्थवादी दृश्य-बंध, सुनील अरोरा का प्रभावपूर्ण प्रकाश-सयोजन, दीपक गिडवानी की सगत सगीत-परिकल्पना तथा नोना चावला के देश-काल-पात्र उपयुक्त वस्त्र-विन्यास ने चरित्रों को स्वाभाविक एवं प्रामाणिक परिवेश प्रदान किया। लगातार पागल हो रहे सवेदनशील और ईमानदार पति की झुंझलाहट, छटपटाहट, पीड़ा और निरीहता को आलोक नाथ ने पूरी जीवन्तता से प्रस्तुत किया तो खूबसूरत चेहरे का सार्थक प्रयोग जानती पत्नी के रूप में नोना चावला ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से खूँखार-प्रतिशोध की अभिव्यक्ति भी सफलतापूर्वक की। योहान की भूमिका में केशव आनन्द तथा डा० ओस्टरमार्क के रूप में उमेश फाल्फर ने प्रभावित किया। बर्था तथा मार्गरेट के रूप मे नीति आनन्द और अंजली आनन्द ने भी कुछेक प्रसंगो को कुशलतापूर्वक अभिनीत किया। निर्देशक के रूप मे फ़ैज़ल ने इस प्रस्तुति मे अपनी प्रतिभा और कल्पनाशीलता का पूर्ण परिचय दिया।

यह एक शुभ लक्षण है कि पिछले कुछ समय से राजधानी में प्रतिभा-सपन्न युवा निर्देशकों एव कुशल रंगकर्मियों का प्रभुत्व धीरे-धीरे बढता जा रहा है। इस वर्ष के अन्तिम दिनों की इन प्रस्तुतियों ने कहीं-कहीं अपने कच्चेपन के बावजूद दर्शकों को एक नये स्वाद और महकती ताजगी के कारण भविष्य के प्रति पर्याप्त आशान्वित किया है।

१९७८ (क)

पिछले दिनों मणि मधुकर के **बुलबुल सराय** तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री के **शुतुरमुर्ग** जैसे उत्तेजक राजनीतिक नाटकों के बाद नये वर्ष की पहली प्रस्तुति के रूप में **सिंहासन खाली है** जैसे बहुचर्चित व्यंग्य नाटक के सुपरिचित युवा नाटककार निर्देशक सुशील कुमार सिंह का इप्टा द्वारा प्रस्तुत **नागपाश** बहुत ढीला और बेजान लगा। आपात्काल के उस अत्यन्त गम्भीर, महत्वपूर्ण और त्रासद राजनीतिक घटना-प्रसंग को लेखक ने बड़े स्थूल और सतही धरातल से ग्रहण करके अपने व्यावहारिक नाट्य अनुभव तथा आकर्षक निर्देशकीय रंग-पक्तियों के बल पर प्रस्तुति को रोचक बनाने की भरपूर कोशिश की परन्तु गहरी राजनीतिक समझ और अन्तर्दृष्टि के अभाव में यह नाटक कोई उत्तेजक नाट्यानुभूति नहीं दे सका। परिस्थितियों और कारणों की सूक्ष्म खोजबीन के बिना कुछ बहुप्रचारित विडम्बनापूर्ण प्रसगों को ज्यों का त्यों अथवा फूहड़-मजाक के स्तर तक खींच ले जाना आपात्काल से पूर्व, आपात्काल के दौरान और आपात्काल के बाद की घटनाओं का एकतरफा एवं सरलीकृत प्रस्तुतीकरण मात्र बनकर रह गया। पूर्वार्द्ध में नाटक को जिस अपेक्षाकृत नये और लगभग 'एब्सर्ड' मुहावरे मे प्रदर्शित किया गया उसका उत्तरार्द्ध के प्रत्यक्ष घटनापरक एव यथार्थवादी रंग-विधान से कोई आन्तरिक सम्बन्ध भी नहीं बन सका। परन्तु इस सबके बावजूद अन्ततः नाटक मे जनता के पक्ष मे निकाला गया निष्कर्ष और सत्ता की चुनौती का स्वर बहुत संगत, प्रासगिक तथा महत्वपूर्ण लगा। स्त्री के रूप मे मृदुला कौशिक ने श्रीमती इन्दिरा गांधी तथा अन्य नारी-चरित्रों को सजीव करने की भरपूर कौशिक की। अपनी विविध पुरुष भूमिकाओं मे अनुपम खेर, विवेक स्वरूप, अनिल कपूर, जी० पी० नामदेव एवं सतीश कौशिक ने भी अपनी अभिनय प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया। उनकी गतिया सहज-सरल थी और संयोजन प्रभावपूर्ण। अशोक सागर भगत का दृश्य-बंध सादा किन्तु व्यावहारिक था और प्रकाश-व्यवस्था नाटक के मूड के अनुकूल। युवराज शर्मा का सगीत कुछ मौलिक ध्वनि-संयोजनों के कारण रोचक लगा। कुल मिलाकर इस नाटक में सुशील कुमार सिंह के लेखक की अपेक्षा उनका निर्देशक ही अधिक सफल रहा।

'रंगकर्मी' द्वारा प्रस्तुत डा० नरेन्द्र कोहली का पहला नाटक **शम्बूक की हत्या** भी एक शब्द-बहुल सवाद-संरचना मात्र बन कर रह गया। व्याख्या के स्तर पर रामायण काल को आज के संदर्भ से जोड़कर देखना और स्थितियों की विडम्बना को व्यग्यात्मक स्तर से प्रस्तुत करने तक तो फिर भी ठीक है परन्तु व्यावहारिक रंगमंच के अनुभव के अभाव में कोई भी प्रभावपूर्ण केन्द्रीय नाट्य-बिम्ब नहीं उभर पाता और यह नाटक कुछेक अच्छे मजाकों तथा रोचक-स्थितियों के बावजूद प्राध्यापकीय लफ्फाजी का शिकार बन जाता है। डा० कोहली एक

अच्छे व्यंग्यकार और कथाकार हो सकते हैं परन्तु उन्हे जानना चाहिए कि नाटक एक भिन्न विधा है जिस पर हाथ आजमाने के लिए रगमच के माध्यम को गहराई से जानना और समझना निहायत जरूरी है। प्रस्तुति के आरम्भ और अंत में निर्देशक द्वारा दुष्यन्त कुमार की गजल का इस्तेमाल मूल कथ्य के सर्वथा अनुकूल तथा प्रभावपूर्ण था। ब्राह्मण के रूप में रमाकात चौधरी, क्लर्क के रूप में सुरेश भारद्वाज तथा चपरासी और सब-इन्स्पेक्टर के रूप मे विनोद गुप्ता तथा बी० एस० राठौर का अभिनय अपेक्षाकृत ठीक था। निर्देशक चद्रमोहन ने अनेक रग-प्रयोगों तथा बिन्दू ने चामत्कारिक प्रकाश-व्यवस्था के बल पर इसे रोचक बनाने की भरसक किन्तु निरर्थक कोशिश की।

रेवतीशरण शर्मा का 'विहान' द्वारा प्रस्तुत सामाजिक-राजनीतिक व्यग्य नाटक **तुम्हारे गम मेरे** हमारी राजनीति के दोगलेपन, न्याय-व्यवस्था के खोखलेपन, व्यापारियों के भ्रष्टाचार तथा समाज के ठेकेदारों के अन्याय-अत्याचार का पर्दाफाश करके सामान्य जन की बामदी को रेखाकित करता है।

रेवतीशरण शर्मा एक प्रौढ एवं अनुभवी नाटककार हैं, चुस्त-दुरुस्त सवादों को रोचक मंच-विधान में बाँधने की कला उन्हे आती है, परन्तु एकायामी बोलचाल की भाषा तथा समस्याओ के सरलीकृत प्रस्तुतीकरण के कारण वह प्राय. तीव्र-गहन नाट्यानुभूति देने मे सफल नही हो पाते। चार सैटों की विस्तृत दृश्य-बंध योजना तथा बाईस पात्रों वाले इस नाटक को सभाल ले जाने की दृष्टि से निर्देशक रवि शर्मा का प्रयास सराहनीय है। दीनदयाल चमार की केन्द्रीय भूमिका में सतीश महाजन तथा ब्राह्मण कन्या सरस्वती के रूप मे अर्चना सिद्धू ने प्रभावित किया। एडवोकेट मि० टण्डन, नेता रामसेवक, जुलाहे की पत्नी, बुआ तथा बेटी शब्बो के रूप में क्रमश: कुलबीर पराशर, राजेन्द्र वर्मा, रानी वशिष्ठ और नीरा कपूर का अभिनय भी चरित्रानुकूल था। त्रिपुरारी शर्मा की प्रकाश-परिकल्पना तो सुन्दर थी, परन्तु कही-कही शिथिलता के कारण वह बेअसर सी लगी।

उपरोक्त तीनों नाटकों के समय-संदर्भ, व्यग्यात्मकता और सामाजिक सम्बद्धता तो प्रशसनीय है परन्तु कलात्मकता और प्रभविष्णुता की दृष्टि से इनमें से कोई भी नाटक विशेष उल्लेखनीय नही बन पाया।

इस बीच विजय तेंदुलकर के दो बहुचर्चित और बहुमंचित नाटकों के नये प्रस्तुतीकरण भी हुए। 'रुचिका वीकएण्ड थ्येटर' के अन्तर्गत अरुण कुकरेजा के निर्देशन में प्रस्तुत **सखाराम बाइंडर** की प्रस्तुति पर्याप्त चर्चा का विषय रही। काम सम्बन्धी की नग्नता वाले इस विवादास्पद नाटक को निर्देशक ने क्रूरता, प्रत्यक्ष हिंसा तथा कामुक-वासनात्मक दृश्यो के मासल प्रदर्शन द्वारा और भी उत्तेजक बना दिया। मध्यान्तर से पहले चम्पा द्वारा कमीज भेंट देना तथा सखाराम और दाउद के बीच ताश का दृश्य मौलिक, मार्मिक, और संकेतात्मक है।

संयोजन अत्यन्त सुन्दर थे और तीव्र-त्वरित दृश्यान्त विशेष सराहनीय। मध्यान्तर से पूर्व का नाटक अपूर्व था परन्तु उत्तरार्द्ध में चरित्रों की बदली हुई व्याख्या, हल्के-लोकप्रिय तत्वो के समावेश तथा निरर्थक परिवर्तनों के कारण नाटक मे शिथिलता आ गई। अंत मे श्रीकृष्ण को मच पर देखना और गीता के श्लोकों का सुनना दर्शक किसी भी तरह पचा नही पाए।

सखाराम बाइंडर के अद्भुत और जटिल चरित्र को आलोक नाथ ने अत्यन्त विश्वसनीयता तथा मनोवैज्ञानिक समझ के साथ जीवन्तता से प्रस्तुत किया। लक्ष्मी के रूप मे राका सिन्हा ने अपने स्वच्छन्द अभिनय से प्रभावित किया परन्तु एक आधुनिक मॉड लडकी की शक्ल-सूरत, चाल-ढाल और संवाद-प्रस्तुति के कारण वह तेंदुलकर की लक्ष्मी से एकदम भिन्न दिखाई दीं। चम्पा के रूप मे नीता गुप्ता ने भी निर्देशक की व्याख्या के अनुरूप चरित्र से पूरा न्याय किया परन्तु दाउद के रूप में सजीव भार्गव तथा फौजदार के रूप मे पवन मल्होत्रा बहुत कुछ फिल्मी और अतिनाटकीय हो गए। एस० अधिकारी का दृश्य-बंध, दिलजीत कल्मी का संगीत तथा सुनील अरोरा एव अरुण कुकरेजा का प्रकाश-संयोजन प्रशमनीय था। कुल मिलाकर, अधिकाश दृश्य अत्यन्त प्रभावपूर्ण तथा कलात्मक थे, परन्तु सभी कलाकारों में मूल नाट्यालेख के निम्नवर्गीय पात्रों की रुक्षता, अनगढ़ता, उजड्डता और ग्राम्यता का अभाव था। यदि निर्देशक की दृष्टि मे मौलिकता, गभीरता और ईमानदारी की जरा-सी भी कमी होती तो नि संदेह इस प्रस्तुति को अश्लील कहा जा सकता था—परन्तु अब इस प्रकार का कोई फतवा देना शायद तर्कसगत और न्यायोचित नहीं होगा।

तेंदुलकर के ही एक अन्य श्रेष्ठ नाटक **खामोश! अदालत जारी है** (अनुवाद कमलाकर सोनाटक्के) को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमंडल ने सुधीर कुलकर्णी के निर्देशन में प्रस्तुत किया। खोखली सामाजिक व्यवस्था, आडम्बरयुक्त रूढ़ियों, भग्न-जर्जर परम्परित मूल्यों तथा बदलते परिवेश के संदर्भ में मानव-सम्बन्धो की विडम्बना को नाटककार ने पूरी मार्मिकता और जीवन्तता मे पेश किया है। गहरे तनाव को बार-बार हँसी-मजाक से तोड़ता हुआ यह नाटक दर्शकों से ठहाके लगवाता है परन्तु प्रत्येक ठहाका अतिम सीमा को छूते-छूते एक तीखी कसक में तब्दील होकर विपरीत प्रभाव पैदा करता है। इस प्रस्तुति मे ठहाके तो खूब लगे परन्तु वह 'विपरीत प्रभाव' नहीं उभरा जो इस नाटक की आत्मा है। निर्देशक की दृष्टि मूलतः मनोरजनपरक और सतही थी।

अभिनेताओं में से रोकड़े की भूमिका में रघुवीर यादव सर्वश्रेष्ठ रहे। सामंत, बेणारे, सुखात्मे तथा श्रीमती काशीकर की भूमिकाओं में क्रमशः प्रेम मटियानी, सुमन तिवारी, चन्द्रशेखर वैष्णवी तथा सावित्री तलवार, भरपूर कोशिश के बावजूद चरित्रों की गहराई नही छू सके। 'काशीकर के रूप में

हरजीत सिद्धू का पंजाबी उच्चारण भी आद्यन्त अखरता रहा। पौंक्षे और कार्णिक के रूप में विजय कश्यप तथा राजा बुन्देला अतिरंजित लगे। सुधीर कुलकर्णी की मंच-सज्जा अच्छी थी और उनकी प्रकाश-व्यवस्था में पीले-नीले और लाल रंगों का रोचक इस्तेमाल किया गया। समग्र-प्रभाव की दृष्टि से यह प्रस्तुति नाटक की गम्भीरता, तीव्रता और मार्मिकता को उजागर करने में सफलता प्राप्त नही कर सकी।

एन० के० पिल्लय के मलयालम नाटक कन्यका के डा० सुधांशु चतुर्वेदी कृत हिन्दी अनुवाद को 'अकुर आर्ट्स' ने शैलेन्द्र के निर्देशन मे प्रस्तुत किया। नये और पुराने जीवन मूल्यों के संघर्ष चित्रण के अतिरिक्त नारीत्व की सार्थकता तथा परिपूर्णता केवल पत्नीत्व और मातृत्व में ही सिद्ध करने वाले इस रोचक नाटक का अन्त एकदम अमनोवैज्ञानिक तथा अस्वाभाविक था। परिवर्तित परिस्थितियों मे वदलते हुए मानव सबधों के सूक्ष्म-गम्भीर प्रस्तुतीकरण के लिए जिस निर्देशकीय और अभिनय प्रतिभा की जरूरत होती है, उसका अभाव इस प्रस्तुति की सबसे बड़ी कमी थी। फिर भी, अभिनय की दृष्टि से सुभाष गुप्ता तथा राखी ने प्रभावित किया।

शाबाश अनारकली के ख्याति प्राप्त नाटककार सुरेन्द्र गुलाटी के नये हास्य-नाटक **दाल में काला** को 'मौड्नाइट्स' की ओर से दीनानाथ के निर्देशन मे प्रस्तुत किया गया। वस्तु-सरचना तथा चरित्रांकन की दृष्टि से यह नाटक बार-बार मौलियर की याद दिलाता है जिसे अपनी निर्देशकीय प्रतिभा के बल पर दीनानाथ ने हँसी का खजाना बना कर पारसी रंग-शैली मे सफलतापूर्वक पेश किया। आसिफ और शुजाउद्दीन के गले मिलने का दृश्य, जीनत के अलमारी मे छिपने का प्रसंग तथा 'धोबी की लौंडिया वाली वात बताद्, बताद्?' जैसे सवाद अद्भुत नाट्य-विडम्वना से युक्त होने के कारण अत्यन्त हास्योत्पादक सिद्ध हुए। बूढ़े शुजाउद्दीन और उसकी जवान गवारू बेगम जीनत की भूमिका में राजीव गाँधी तथा इन्दिरा चन्द्रा ने स्मरणीय अभिनय किया। मुन्ने नवाव, हुस्नआरा, जमीला तथा आसिफ के रूप मे क्रमशः माहेश्वर दयाल, रश्मि सैनी, कुमकुम लाल और गणेश सेठ ने भी अपने-अपने चरित्रों के साथ पूर्ण न्याय किया। पात्रों की अतिरंजनापूर्ण गतिया एव मुख मुद्राएं, सवादो के विशिष्ट लय-विधान और नाटकीय बलाघात, कलात्मक सयोजन तथा पैने दृश्यातो की तीव्रता इस प्रस्तुति की उल्लेखनीय विशेषताएं थी। **दाल में काला** एक हास्य नाटक है और इस दृष्टि से नि.सदेह इसे देखना एक मनोरंजक अनुभव था।

कुल मिलाकर नये रंग वर्ष की यह वैविध्यपूर्ण शुरुआत अत्यन्त रोचक, आशाप्रद तथा सुखद प्रतीत हुई।

(ख)

दिसम्बर १९७७ के अन्तिम दिनों से आरम्भ होकर मई १९७८ के आरम्भ तक चलने वाले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमंडल द्वारा आयोजित नाट्य-समारोह के अन्तर्गत नये-पुराने छः नाटकों के लगभग ६०-७० प्रदर्शन हुए। अधिकांश प्रस्तुतियों में उमड़े जन-समुदाय को यदि सचमुच नाटक का सही दर्शक मान लिया जाए तो सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजधानी में नाट्य-रुचि लगातार तेजी से बढ़ रही है और दर्शकों के अभाव की बात भी सही नहीं है—जरूरत है सिर्फ अच्छे नाटकों के कलात्मक एवं रोचक प्रदर्शनों की। इब्राहीम अल्काज़ी के निर्देशन में प्रस्तुत और प्रकाश पंडित द्वारा रूपान्तरित मौलियर की प्रसिद्ध कामदी **बीवियों का मदरसा** को दिल्ली के दर्शक गत वर्ष भी देख और सराह चुके थे। बिल्कुल यही स्थिति अमाल अल्लाना के निर्देशन में प्रस्तुत मोहन राकेश के **आधे-अधूरे** तथा रंजीत कपूर द्वारा रूपान्तरित और निर्देशित आनन्द कुमार के **बेगम का तकिया** की थी। इन तीनों प्रस्तुतियों में दो-एक गौण कलाकारों के परिवर्तनों के अतिरिक्त लगभग सभी कुछ मूल प्रस्तुतियों के अनुरूप ही था। राम गोपाल बजाज द्वारा सम्पादित और निर्देशित जयशंकर प्रसाद का प्रसिद्ध नाटक **स्कन्दगुप्त** भी मूलतः मध्य प्रदेश कला परिषद् भोपाल के "गौरव नाट्य समारोह" के लिए ही तैयार किया गया था। निर्देशक के अनुसार, "नाटक की संरचना में कोई मौलिक अन्तर नहीं किया गया है, संवादों को छोटा है। यत्र-तत्र वाक्य-विन्यास सरल किए हैं किन्तु पात्र-योजना ज्यों की त्यों है। एकाध घटना को दिखाने के स्थान पर सूच्य कर दिया है–इस प्रकार स्वगतभाषण को दर्शक से साक्षात्कार की शैली में ढाल कर पारम्परिक नाटकीयता का उपयोग कर लिया है।"[1] परन्तु मेरे विचार से निर्देशक ने भरपूर परिश्रम और प्रतिभा प्रयोग के बावजूद यहां सरलीकरण का ही मार्ग अपनाया और नाटक को सम्पादित करते समय मूल आलेख की अनेक समस्याओं में से राष्ट्रीयता तथा ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष जैसी दो-एक समस्याओं पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की। प्रस्तुति में प्रसाद के समस्त काव्य-भण्डार में से कुछ विशिष्ट गीतों का चयन करके उन्हें नाटक में नियोजित करने का प्रयास किया गया तथा इसे अधिक रोचक और दर्शनीय बनाने के लिए भव्य दृश्यसज्जा और वैभवपूर्ण वस्त्र एवं रूप-विन्यास के साथ-साथ संगीत की मधुरता एवं प्रकाश की रंगीनी पर भी विशेष बल दिया गया। परन्तु त्वरित दृश्य-बंध परिवर्तन करने, हास्य-भूमिकाओं पर अतिरिक्त बल देने, कार्य-व्यापार की शिथिल गति और देवसेना के कमजोर गीतों के कारण नाटक का कोई तीव्र प्रभाव नहीं पड़ा। **स्कन्दगुप्त** के रूप में मनोहर सिंह तथा देवसेना के रूप

---

१. प्रस्तुति के परिचय-पत्र में प्रस्तुत 'निर्देशकीय' से

में उत्तरा बावकर की केन्द्रीय भूमिकाओं के बावजूद सुरेखा सीकरी (अनन्त देवी), राजेश विवेक (भटार्क), सुधीर कुलकर्णी (प्रपंचबुद्धि और भीमवर्मा) रंजीत कपूर (पर्णदत्त), अनिला सिंह (विजया) जैसे कलाकारों ने अधिक जीवन्त अभिनय किया। प्रस्तुति में भव्यता, रंगीनी, चमत्कार और नृत्य-गान का स्वरूप पारसी शैली के अनुरूप था जबकि अभिनय पद्धति यथार्थवादी शैली के अनुसार रखी गई थी। इन दोनों शैलियों के असतुलन और अनेक स्थानों पर भारी-भरकम सस्कृतनिष्ठ काव्य-भाषा के अशुद्ध एव अकाव्यात्मक उच्चारण के कारण भी यह नाटक अपने परम्परित गौरव की रक्षा नही कर सका। मेरे विचार से प्रसाद के नाटकों की रंगमंचीयता का प्रश्न मूलतः भाषा और सरचना की शिथिलता से जुड़ा है और शायद यही कारण है कि देश के जाने-माने निर्देशकों, कलाकारों और साधन सम्पन्न नाट्य-दलों के बहुविध प्रयोगों के बावजूद—केवल **ध्रुवस्वामिनी** को छोड़कर—प्रसाद के किसी नाटक का प्रभावपूर्ण सफल मचन नही हो सका है। परन्तु कमियों और सीमाओं के बावजूद बजाज की यह प्रस्तुति कई दृष्टियों से उल्लेखनीय और सराहनीय मंच-प्रयोग है।

सुधीर कुलकर्णी के निर्देशन में प्रस्तुत तेंदुलकर के **खामोश ! अदालत जारी है** की चर्चा हम पहले कर ही चुके है। इस प्रकार, इस नाट्य-समारोह की अन्तिम और एकमात्र नयी प्रस्तुति है—**संध्याछाया**। उत्तरा बावकर के निर्देशन में प्रस्तुत जयवन्त दलवी के मराठी नाटक के डा० कुसुम कुमारकृत हिन्दी अनुवाद की यह प्रस्तुति अपने आप में एक जीवन्त और प्रामाणिक अनुभव थी। दो पीढ़ियों के मूल्यों, सपनो और उनकी जरूरतो, कुण्ठाओ एव समस्याओ की जबरदस्त टकराहट तथा जीवन संध्या पर निराशा, अकेलेपन और अलगाव की लगातार घिरती आती विकराल छायाओं को नाटककार ने टूटते हुए परिवार की पीडा, तिड़कते हुए सम्बन्धो की कसक और अपने-अपने सुखों की मृगतृष्णा के पीछे बेतहाशा भागते लोगो की त्रासद स्थिति को एहसास और संवेदना के स्तर पर पूर्ण नाटकीयता के साथ रेखाकित किया है।

प्रस्तुति में नाना-नानी की अन्तरंग-आत्मीय नोंक-झोंक, अकेलेपन के अभिशाप से त्रस्त उनके ठहरे हुए जीवन में बच्ची शर्मिला का रौग नम्बर के माध्यम से जुडा टेलीफोन सम्बन्ध तथा किसी और का पता पूछने आए विनम्र का अपनापन, अपने बेटे की शादी के मौके की तरह सजकर नाना-नानी का एक अजनबी की बारात में दूर से ही शामिल होने का सुख, दीनू के विवाह की खबर के बाद नानी की चाय की खामोश चुस्कियो तथा नाना की कप-प्लेट की खनखनाहट से टूटकर गहराता मौन, चरमराकर बन्द होती अल्मारी का तीखा-क्रूर स्वर, परस्पर आँखें बचाते नाना-नानी, मौन का मुखर-नाटकीय प्रयोग, नाना का अपने मृत बेटे की जन्मपत्री से विनय की बहन की जन्मपत्री का मिलान और उसे अपने घर रख लेने की बात तथा अन्त में टेलीफोन की घन्टी

का लगातार बजते रहना और नाना-नानी में से किसी का भी रिसीवर न उठाना—इस नाटक के कुछ अत्यन्त मार्मिक और तीव्र नाटकीय प्रसंग हैं।

एक पाव से लंगड़ाकर चलते बूढे नाना की भूमिका में मनोहर सिंह ने अपनी ऐतिहासिक महापात्रीय अथवा क्रुद्ध-युवा की प्रतिमा के विरुद्ध जाकर अपनी अभिनय-क्षमता तथा प्रतिभा का अद्भुत प्रमाण प्रस्तुत किया है। स्नेहमयी किन्तु अकेलेपन से छटपटाती वृद्धा नानी के रूप में सुरेखा सीकरी की एक-एक भाव-भंगिमा, गति तथा संवाद-प्रस्तुति दर्शनीय थी। बदलती मनः स्थितियों के साथ-साथ इन दोनों कलाकारों की बदलती-आवाज, त्वरित गतिशील मुख-मुद्राएँ तथा सहज, स्वाभाविक अंग-संचालन अत्यन्त प्रभावशाली थे। हर वक्त मुंह मे पान का बीड़ा दबाए रखने वाले, अपने काम के प्रति जागरूक और तत्पर बिहारी नौकर म्हादू की भूमिका में रजीत कपूर ने एक भी संवाद बोले बिना अपनी उपस्थिति का तीव्र एहसास कराया तो श्याम के रूप में राजेश विवेक तथा विनय की भूमिका में के०के० रैना ने भी उल्लेखनीय संयम और सहजता का उदाहरण प्रस्तुत किया। भोली-भाली सहानुभूतिपूर्ण स्कूली लड़की शर्मिला के रूप में अनिला सिंह तथा उसके अक्खड़ दादा के रूप मे जी० एस० मराठे भी प्रभावपूर्ण रहे। रजीत कपूर की मंच-सज्जा व्यावहारिक एवं कलात्मक थी। बसंत जोसलकर तथा के० के० रैना की प्रकाश-व्यवस्था और रंजीत कपूर की संगीत परिकल्पना (विशेषत. बारात के दृश्य में) कल्पनापूर्ण थी। निर्देशन की दृष्टि से उत्तरा बावकर का यह प्रथम (?) प्रयास निःसन्देह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक रहा।

इस महत्वाकांक्षी और लोकप्रिय नाट्य महोत्सव के साथ-साथ राजधानी में और भी कई अच्छी-बुरी नाट्य-प्रस्तुतियाँ चलती रहीं। बीस से पच्चीस फरवरी तक 'अग्रदूत' ने भास के सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक **स्वप्नवासवदत्ता** को नादिरा बब्बर के निर्देशन मे **राजा का सपना** नाम से प्रस्तुत किया। हिन्दी अनुवादक थे—ब० ब० कारन्त। निर्देशिका ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र की रूढ़ियों का कलात्मक प्रयोग किया। गोलाकार गतियो, सांकेतिक हस्त मुद्राओं, स्वगत के लिये हथेली और दो उंगलियों का इस्तेमाल रोचक था तो स्वप्न दृश्य में प्रकाश का संगीत के आरोह-अवरोह से समायोजन प्रभावपूर्ण। वीना त्रिवेदी (वासवदत्ता), अर्चना सिद्धू (चेट्टी-१), दीपक केजरीवाल (विदूषक) और राज बब्बर (उदयन) के अभिनय के साथ-साथ सुशील चौधरी की प्रकाश-व्यवस्था तथा राज बब्बर का संगीत-संयोजन विशेषतः सराहनीय रहे। लगभग सभी दृष्टियों से आकर्षक, रंगीन और कलापूर्ण यह नाटक पता नहीं क्यों दर्शक बटोरने में पूरी तरह असफल रहा।

'आगाजे अदाकार' ने रवीन्द्र शर्मा के निर्देशन मे सुरेन्द्र वर्मा के कठिन नाटक **सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक** को प्रस्तुत किया, जो संस्कृत-

निष्ठ भाषा के अशुद्ध उच्चारण और गरिमापूर्ण श्रेष्ठ अभिनय के अभाव में जम नहीं सका। पैंकिंग-पेपर से बनाए गए दृश्य-बंध मे गरिमा और नवीनता थी।

विलियम शेक्सपियर के नाटक **जूलियस सीजर** को रवि वासवानी ने 'नॉन ग्रुप' की ओर से हिन्दुस्तानी में प्रस्तुत किया। विराट और व्यावहारिक दृश्य-बंध, संगत प्रकाश संयोजन, कलापूर्ण वस्त्र और रूप-विन्यास तथा बनवारी तनेजा और रवि वासवानी के श्रेष्ठ अभिनय के बावजूद प्रस्तुति दर्शक को अन्त तक बाध नही पाई। सीमित साधनों वाले इस उत्साही नाट्य-दल के लिए यह एक बहुत बड़ा और कठिन नाटक था। अच्छा होता रवि ने **अंधायुग** और **मक्खीचूस** की तरह ही इसे भी रूपांतरित करके सादे ढंग से ही प्रस्तुत किया होता।

'दिल्ली आर्ट थ्येटर' की ओर से मनोज भटनागर ने शान्ति मेहरोत्रा के नाटक **ठहरा हुआ पानी** को प्रस्तुत किया जो सीमा तथा रमा के रूप में क्रमशः वीना त्रिवेदी और सुमन सोनी तथा अम्मा और बाबू के रूप मे साधना भटनागर तथा अजय सिन्हा के अभिनय के साथ-साथ मनोज भटनागर के यथार्थपरक सुन्दर दृश्य-बंध के कारण, अनेक स्थानो पर शिथिल गति के बावजूद, अच्छा लगा।

बीस से पच्चीस मार्च के बीच 'अग्रदूत' ने सुदेश स्याल द्वारा अनूदित वृन्दावन दण्डवते के मराठी नाटक के हिन्दी अनुवाद **हिलोमत डुलोमत** को सई परांजपे के निर्देशन मे प्रस्तुत किया। इसमे रंगो का इस्तेमाल रोचक था और राजेन्द्र कुमार, कुमकुम लाल, सुधीर कुलकर्णी, वीरू तथा प्राण तलवार का अभिनय प्रभावपूर्ण। परन्तु कुल मिलाकर प्रस्तुति खासी नीरस और प्रभावहीन सिद्ध हुई।

इस वर्ष संगीत नाटक अकादमी से नाट्य-लेखन के लिए पुरस्कृत 'लक्ष्मी नारायण लाल' और निर्देशन के लिए पुरस्कृत राजिन्दर नाथ का काम भी पुरस्कार समारोह के अन्तर्गत देखने को मिला। डा० लाल के नये नाटक **गंगा माटी** को राम गोपाल बजाज के निर्देशन मे कई एक परिवर्तनो के साथ प्रस्तुत किया गया; जिसमें युवा नाटककार सुरेन्द्र वर्मा के साथ हेमा सहाय, सुधीर कुलकर्णी, अर्चना सिद्धू इत्यादि ने अभिनय किया। परन्तु यह प्रस्तुति नाट्य-लेखन, निर्देशन, गायन अथवा अभिनय—किसी भी दृष्टि से प्रभावित करने में असमर्थ रही। अच्छा होता, यदि अवसर की गरिमा के अनुरूप डा० लाल का कोई पुराना किन्तु प्रभावशाली नाटक ही प्रस्तुत किया गया होता। इसी मौके पर राजिन्दर नाथ ने गोविन्द देशपाण्डे के पूर्वप्रदर्शित नाटक **उद्ध्वस्त धर्मशाला** को प्रस्तुत किया। इस बार प्रो० श्रीधर कुलकर्णी की केन्द्रीय भूमिका एम० एम० ज़हीर ने निभाई और वह ओम पुरी या श्रीराम लागू से पीछे नही रहे। जब कि सरस्वती की भूमिका में सबीना मेहता चरित्र के तनाव-खिंचाव को

दर्शाने में पूर्णतया सफल नही हो पाई । इस बार अंत को थोडा परिवर्तित करके पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण बना लिया गया था ।

छ और सात अप्रैल को जन 'नाट्य मंच' ने उत्पल दत्त के नाटक अब राजा की बारी है के हास्य को पूरी गम्भीरता से प्रस्तुत किया । नाटक की संरचना रोचक थी जिसे मनोरंजक ढंग से पेश किया गया । अपेक्षाकृत नये कलाकारों ने सधा हुआ और श्रेष्ठ अभिनय किया । परन्तु मध्यांतर तक प्रस्तुति के कसाव और बुनावट मे जो कारीगरी थी वह बाद वाले अंश में कायम नही रह सकी और अंत तक पहुचते-पहुंचते आरम्भिक तीव्र और उत्तेजक प्रभाव लगभग समाप्त हो गया । इसका तकनीकी पक्ष भी बहुत कमजोर रहा—खासकर प्रकाश-व्यवस्था ।

'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के छात्रों के तीन ग्रुपों के साथ दो-तीन और चार मई को बैरी जॉन ने सोफोक्लीज की विश्वविख्यात त्रासदी इडिपस रेक्स को उसके मौलिक रूप-बंध और परिवेश में प्रस्तुत किया । अनुवाद जितेन्द्र कौशल का था । कक्षा-अभ्यास-प्रस्तुति होने के कारण इसमें अभिनय की परिपूर्णता देखने को नहीं मिली । अभिनेता उर्दू (हिन्दुस्तानी ?) के कठिन शब्दों का सही उच्चारण तक करने मे असमर्थ थे । निर्देशक का प्रस्तुत नाटक की भाषा के प्रति अज्ञान अथवा अल्प ज्ञान ही शायद इसका कारण रहा हो । सम्भव है मुखौटों वाली प्रस्तुति में अभिनेताओं के अगरिमापूर्ण हाव-भाव छिप गए हों और प्रस्तुति रोचक बन गई हो । वैसे, कोरस के नाटकीय उपयोग, प्रभावपूर्ण संयोजन, वैविध्यपूर्ण गतियों, भव्य दृश्य-बंध, ऐतिहासिक वस्त्र-विन्यास और सटीक रूप-सज्जा इत्यादि की दृष्टि से यह प्रस्तुति अत्यन्त प्रामाणिक और आकर्षक थी ।

समग्रतः पिछले दिनों की ये रंग गतिविधियां वैविध्यपूर्ण, रोचक और उल्लेखनीय रहीं— यह बात अलग है कि एक संध्याछाया को छोड़ कर इस बीच कोई भी नई प्रस्तुति लोकप्रियता, कलात्मकता और प्रदर्शनीयता की दृष्टि से उपलब्धि नही बन सकी कि निकट भविष्य में हिन्दी रंगमंच का बहुमुखी विकास होगा तथा नये नाटकों की श्रेष्ठ और उत्तेजक प्रस्तुतियां दिल्ली रंगमंच को समृद्ध करेंगी ।

७

समकालीन हिन्दी रंगमंच—दो

कुछ विशिष्ट प्रस्तुतियां

[यूं तो पिछले अध्याय में प्रस्तुत 'प्रस्तुति-समीक्षा' के अन्तर्गत प्रायः इनमें से कई नाट्य-प्रदर्शनों की चर्चा हो ही चुकी है और ऊपरी नजर से देखने पर यह मात्र पुनरावृत्ति-भर भी लग सकती है। किन्तु गम्भीरता से देखने पर आप पायेंगे कि इन विशिष्ट प्रस्तुतियों की अनेक महत्वपूर्ण बातों की चर्चा यहां पहली बार ही हो रही है और विगत दो-एक वर्षों के दिल्ली रंगमंच को देखते हुए यह प्रदर्शन सचमुच कुछ विस्तृत समीक्षा के अधिकारी थे। शेष समीक्षाएं ऐसी हैं जो या तो किन्हीं कारणों से पूर्व-समीक्षा लेखों में आ ही नहीं पाईं या वहां इनका केवल नामोल्लेख मात्र ही हो सका है। इनके अतिरिक्त भी अनेक विशिष्ट और महत्वपूर्ण प्रस्तुतियां इस बीच हुईं। किन्तु या तो उनकी विस्तृत चर्चा पहले के समीक्षा-लेखों में हो चुकी है या फिर अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण मैं उन्हें देखने अथवा उन पर लिखने में असमर्थ रहा। उन्हें पुस्तक में शामिल न कर पाने का मुझे खेद है।]

आधे-अधूरे

१४.१०.७७ राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा अमाल अल्लाना द्वारा मोहन राकेश के बहुचर्चित और बहुमंचित नाटक आधे-अधूरे की एकदम नयी एवं अन्तरंग प्रस्तुति और मौलिक व्याख्या। तीन ओर से दर्शकों से घिरा मंच। मंच पर तीन धरातल। बीच वाले धरातल की लम्बी पट्टी स्टूडियो थ्येटर के केन्द्रीय भाग तक चली गई है। वहीं किनारे पर खाने की मेज और कुर्सियां रखी हैं। ऊपरी धरातल पर सोफ़ा है और नीचे के धरातल पर आराम कुर्सी। प्लास्टर

उखड़ी, पुरानी, भुरभुरी दीवारें; तीन खम्भों पर टिका मकान (कमरा); एक खिड़की, तीन दरवाज़े—यथार्थवादी दृश्य-बंध। मंच पर धीरे-धीरे प्रकाश होता है। काला चूड़ीदार पायजामा, काला कुर्ता और काले मोज़े पहने पंक्तिबद्ध 'कोरस' और 'नैरेटर' का प्रवेश। नारी स्वर में विचित्र ध्वनि के साथ—जिससे पीड़ा, करुणा और त्रासदी का आभास मिलता है—दो काठ के टुकड़ों की भोथरी मगर घनी भरपूर आवाज ('कट' की तरह) होती है। वाद्य-यंत्रों के स्वरों से नाटक की मूल भावना उभारी जाती है। काले सूट वाला आदमी—यहाँ (शायद सुविधा के लिए) काली पैंट और लाल सी शाल के साथ 'प्रस्तावना' आरम्भ करता है। प्रस्तावना को तीन भागों में बांट दिया गया है। आरम्भ में 'यह एक अनिश्चित नाटक है, मध्य में 'आप देख रहे हैं—यह एक अनिश्चित नाटक चल रहा है' और अन्त में "आप ने देखा—यह एक अनिश्चित नाटक था।"—दर्शकों पर यह बात बार-बार थोपी जाती है। नाटक के पात्र अच्छा-भला नाटक करते-करते चुप हो जाते हैं और 'कोरस' या 'नैरेटर' उनके संवाद बोलने लगता है। हद तो तब होती है जब 'रंग-निर्देश' तक कोरस द्वारा बोले जाने लगते हैं या जब कुछेक अत्यन्त तनावपूर्ण सम्वादों को कोरस लयात्मक अथवा पद्यात्मक ढंग से गाकर प्रस्तुत करता है। मेरे विचार से आरम्भ, सावित्री के अंतिम निर्णय (?) का प्रसंग तथा "सम्बन्धों से मुक्ति नहीं पा सकता है मानव मन" वाला गीत—प्रस्तुति को प्रभावपूर्ण बनाने में उपयोगी हैं; जबकि शेष तमाम युक्तियां मात्र नयेपन और चमत्कार का परिणाम हैं। गीत का भी बार-बार प्रयोग अखरता है, क्योंकि जो बात सारा नाटक ध्वनित कर रहा है, उसे बार-बार गाकर कहना दर्शक की बुद्धि पर अकारण अविश्वास करना है।

राकेश पर स्त्री के प्रति अन्याय और पक्षपात का आरोप अक्सर लगाया जाता है। ये प्रस्तुति उसे और उभारती है। सिंघानिया में यदि कामुकता को और न उभारा जाता और पुत्री के प्रति उसका आकर्षण देखकर किसी स्तर पर सावित्री के असंतोष अथवा अप्रसन्नता को अभिव्यक्त किया जाता तो बार-बार घर छोड़ने के उसके प्रयत्नों के बावजूद उसके चरित्र की जटिलता उभर सकती थी और उसका पक्ष अधिक ईमानदारी तथा न्यायसंगत रूप में प्रस्तुत हो सकता था।

नाटक को सम्पादित भी किया गया है। सिंघानिया के विषय में लड़के के संवाद उसके प्रवेश के बाद एक अन्य धरातल पर 'नियत श्राव्य' के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं, जिससे कार्य-व्यापार बार-बार टूटता है और लड़के को भी अपना अभिनय दिखाने का पूरा अवसर नहीं मिल पाता। कैंची की "चख-चख-चख···" के स्थान पर उसे बाप-बेटे दोनों के हाथ में प्रत्यक्षतः दिखाकर प्रतीकात्मकता को अतिमुखर और फूहड़ कर दिया गया है। इसके विपरीत,

आरम्भ में जिस मुरमुरे से खम्भे का सहारा पुरुष—१ लेता है, उसके ऊपर एक बुझा हुआ लैंप लटकाकर बिजली वाले घर में लैंप की तरह महेन्द्रनाथ की स्थिति का सुन्दर प्रतीकात्मक संकेत दिया गया है। आरम्भ में, थकी हारी दफ्तर से लौटी, सामान से लदी स्त्री के घर में प्रवेश करते ही घर की अव्यवस्था देखकर हताश होना और तत्काल कमर में पल्ला खोंसकर फिर से काम के लिए तैयार हो जाना उसके प्रति करुणा उपजाता है और उसके जीवट के प्रति सहानुभूति पैदा करता है। दूसरे अंक के आरम्भ में मेज पर चाबियों का पड़ा गुच्छा सावित्री के अन्तिम निर्णय का संकेत देकर दर्शकों के मन में कुतूहल जगाता है।

अन्तिम दृश्य में, पिता के लौट आने के बाद बिन्नी द्वारा अपना बैग उठाकर झटके से बाहर निकल जाना— ऊपर से तो इस नरक से मुक्ति का एक रास्ता बताता प्रतीत होता है—परन्तु गहराई से सोचने पर लगता है कि जैसे वह सम्बन्धों की जकड़न का ही एक और रूप है—मुक्ति का नहीं। जिस प्रकार पिता तमाम झगड़ों-झंझटों के बावजूद फिर से अपने घर (?) में लौट आया है उसी प्रकार बिन्नी—मोहभंग के बावजूद अपने पति के पास और उसी घर में लौट जाने के लिए अभिशप्त है। वहां से बचने या निकल भागने का कोई रास्ता या स्थायी विकल्प वास्तव में कहीं नहीं है।

आधे-अधूरे का दूसरा भाग सूच्य होने के कारण अपेक्षाकृत कमजोर है, परन्तु इस प्रस्तुति में वह प्रभावशाली लगा क्योंकि उसके तनाव को कोरस ने बार-बार भंग नहीं किया।

दृश्य-बंध के फैलाव ने पात्रों के बीच की आपसी दूरी और उनके अलगाव को तो प्रस्तुत किया परन्तु इससे तनाव और घुटन में बिखराव आ गया।

मनोहर सिंह ने अपनी भूमिकाओं से पूरा न्याय करने की भरसक कोशिश की परन्तु चारों पुरुष पात्रों को अलग-अलग स्थापित करने में वह लगभग असमर्थ रहे। थोड़े-बहुत वस्त्र-परिवर्तन के अतिरिक्त महेन्द्रनाथ को बीड़ी, जगमोहन को गोल्डफ्लेक और जुनेजा को सिगार देकर पात्रों का अन्तर दिखाया गया। छोटी लड़की (नीना चावला) का चरित्र अत्यधिक भागदौड़, मारपीट और रोने-धोने में ही डूब गया। लड़के के रूप में पंकज कपूर को भी अभिनय-प्रदर्शन का कम अवसर मिला। स्त्री की कुढ़न, घुटन और पीड़ा के स्थान पर सुरेखा सीकरी ने विवशता, आक्रोश और विस्फोट को ही अधिक उभारा। बिन्नी के रूप में उत्तरा बावकर की एक ही सांस में खासा लम्बा सम्वाद बोलकर प्रभावित करने की आजमाई हुई कला भी यहाँ विशेष प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुई। उन्होंने भी अपने चरित्र के द्वन्द्व और असमंजस की जटिलता उभारने के बजाए सरलीकरण का मार्ग ही अपनाया।

जापानी रंगमंच और ब्रेख्तियन रंग-रूढ़ियों के सुचिन्तित उपयोग और

विशुद्ध यथार्थवादी अभिनय शैली के साथ 'प्रजेन्टेशनल स्टाइल' के समन्वय से नवीनता का आकर्षण उत्पन्न करने के बावजूद आधे-अधूरे की यह प्रस्तुति 'दिशांतर' की प्रस्तुति के समान सघन और तीव्र नाट्यानुभूति देने में असमर्थ रही।

पुनश्च : २३. ३. १९७८

नाटक : आधे-अधूरे; निर्देशक : अमाल अल्लाना; स्थान : रा० ना० वि० का स्टूडियो थ्येटर; प्रमुख भूमिकाएं : मनोहर सिंह— सुरेखा सीकरी। मोटे तौर पर लगभग सभी कुछ पहले जैसा ही। लड़के की भूमिका में इस बार के० के० रैना और किन्नी के रूप में अनीला सिंह। प्रेक्षागृह हमेशा की तरह भरा हुआ। कलाकारों का अभिनय अधिक सहज, स्वाभाविक और प्रौढ़। कोरस की भूमिका और गीत की पुनरावृत्ति कम। प्रस्तुति पहले के छोटे-मोटे अनेक दोषों से मुक्त। अन्त में स्त्री-पुरुष और लड़के के बीच त्रिकोणात्मक-नाटकीय संरचना। समग्र-प्रभाव तीव्र और सघन। दर्शक-अभिभूत।

आठवाँ सर्ग

महाकवि कालिदास के बहुचर्चित महाकाव्य कुमार सम्भव के आठवें सर्ग में चित्रित नव-विवाहित शिव-पार्वती के उद्दाम रति-विलास के स्वच्छन्द शृंगार-वर्णन सम्बन्धी श्लीलता-अश्लीलता के विवाद के बहाने से सेंसरशिप के शाश्वत प्रश्न को लेकर कुछ समय पूर्व हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न युवा नाटककार सुरेन्द्र वर्मा ने हत्या नामक एक दो-अंकीय नाटक लिखा था जो 'कथा' में प्रकाशित और रेडियो से प्रसारित होकर चर्चित हो चुका था। लेखकीय अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य बनाम शासन या राज्याश्रय की अत्यन्त महत्वपूर्ण समकालीन समस्या पर आधारित उस नाटक का अन्त शासन के समक्ष कालिदास अर्थात् रचनाकार की विवशता और पराजय के साथ होता था। मन ही मन रचनाकार को कालिदास की वह नपुंसक पराजय स्वीकार नहीं थी। इसलिए बाद मे एक और अंक लिखकर रचना की उत्कृष्टता के माध्यम से व्यापक जन-स्वीकृति द्वारा रचनाकार को शासन के सामने विराट् सिद्ध करके एक सम्मानजनक व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया गया और हत्या के पुनर्लेखन एवं संवर्द्धन की इस लम्बी रचना-प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप आठवां सर्ग की सृष्टि हुई; जिसे अप्रैल मास के मध्य मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगरत वर्ग की ओर से सुरेन्द्र वर्मा तथा राजेन्द्र गुप्त के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया।

पुस्तकाधार, मदिराकोष्ठ, झूले, चित्रफलक, दीपदान, मंगल-कलश और रंगोली से निर्मित दृश्य-बंध भारतीय इतिहास के स्वर्ण-काल के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार के निवास की भव्यता, सौष्ठव और परिष्कृति के पूर्णतया अनुकूल

कल्पनाशील, रमणीय एवं व्यावहारिक था। कलात्मकता तथा सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से इसने लहरों के राजहंस की याद ताजा कर दी। श्रीमती रोशन अल्काजी के सहयोग से निर्मित राजेश-विवेक की वस्त्र-परिकल्पना, के० एन० चोपड़ा की संगीत-योजना तथा जी० एस० मराठे की प्रकाश-व्यवस्था ने भी चन्द्रगुप्त-कालिदास कालीन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक वातावरण और परिवेश की स्थापना में महत्वपूर्ण योग दिया।

अभिनय की दृष्टि से प्रियंवदा-अनुसूया के चपल-चंचल तथा प्रियंवदा-अनुसूया और कीतिभट्ट के बीच के हल्के-फुल्के मनोरंजक दृश्यों को सोनू कृदन, उत्तरा बावकर तथा सुधीर कुलकर्णी के कुशल अभिनय ने पर्याप्त रमणीय बनाया। सुधीर कुलकर्णी एक अच्छे अभिनेता हैं, उनकी क्रियाएँ, गतियां एवं भंगिमाएँ सुन्दर थी किन्तु कहीं-कही कुछेक शब्दों के भ्रष्ट-उच्चारण (जैसे-'मधुर' के स्थान पर 'मघूर') के कारण संस्कारी दर्शक के मन को ठेस लगी। कालिदास और प्रियंगुमंजरी के अंतरंग, आत्मीय और सघन प्रेम-दृश्यों को मनोहर सिंह तथा सुरेखा सीकरी ने पूरी जीवन्तता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया परन्तु चेहरे की रूक्षता और ओठों के कसाव के कारण मनोहर सिंह प्रणय दृश्यों की अपेक्षा धर्माध्यक्ष तथा सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ वाले व्यंग्यात्मक एवं तनावपूर्ण प्रसंगों में अधिक सहज, प्रखर और प्राणवान दिखाई दिए। धर्माध्यक्ष की भूमिका में राजेश विवेक ने चरम नाटकीय-क्षणों की सृष्टि की परन्तु सी० एस० वैष्णवी अपने देह-सौष्ठव के बावजूद सम्राट चन्द्रगुप्त की गरिमा और उदात्तता को प्रस्तुत नही कर पाए। इन्हे अपनी जिह्वा को नियंत्रित करने की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। सौमित्र के रूप में राजेन्द्रगुप्त के लिए अभिनय की कोई विशेष सम्भावना नहीं थी किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के साथ मिलकर उन्होंने अपनी निर्देशन-प्रतिभा का समुचित प्रदर्शन अवश्य किया। प्रस्तुति में दृश्य-बंध के विविध-उपकरणों, अभिनय-स्थलों और धरातलों का कलात्मक एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग देखने को मिला। दूसरे अंक में चन्द्रगुप्त तथा तीसरे अंक में कालिदास के 'प्रवेश' अत्यन्त नाटकीय थे। तीसरे अंक के पहले दृश्य में प्रथम अंक की पुनरावृत्ति कुछ लम्बी है तथा दूसरे दृश्य मे नाटक का श्लील-अश्लील की मूल समस्या से हटकर रचना की सम्प्रेरणापेक्षी प्रकृति पर केन्द्रित हो जाना भी नाटक की प्रभावान्विति को खण्डित करता है। सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक में 'सूच्य' प्रसंग अधिक और तीव्र नाटकीय स्थल अपेक्षाकृत कम हैं। परन्तु कुल मिलाकर कमनीय काम सम्बन्धों के उदात्त चित्रण, भाषा के आभिजात्य, समस्या की समकालीन प्रासंगिकता, चरित्रों की जीवन्तता और संवादों की चरित्रजन्य लयबद्धता के साथ-साथ नयनाभिराम दृश्य-बंध, श्रेष्ठ अभिनय कल्पनापूर्ण संगीत, प्रकाश-व्यवस्था तथा कुशल निर्देशन के कारण आठवां सर्ग की प्रस्तुति गत वर्ष के सर्वश्रेष्ठ नाट्य-प्रदर्शनों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

अन्धों का हाथी और मारीच सम्वाद

हिन्दी रंगमंच पर मानव-भविष्य की चिन्ता को लेकर बुनियादी सवाल उठाने वाले गम्भीर व्यंग्य और सही राजनीतिक नाटक बहुत कम प्रस्तुत हुए हैं। इसीलिए राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के 'एक माह में छत्तीस प्रदर्शन' वाले महत्वाकांक्षी नाट्य समारोह में प्रस्तुत शरद जोशी के **अंधों का हाथी** और अरुण मुखर्जी के बंगला नाटक **मारीच संवाद** के हिन्दी रूपान्तरण ने विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया।

भ्रष्ट सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पर तीव्र व्यंग्य करने वाला **अंधों का हाथी** कहीं गहरे में दर्शक को परेशान करता है। बार-बार हास क्रोध मे बदलने लगता है और परिहास विद्रोह मे। यथास्थिति के भ्रष्ट समर्थक प्रश्नकर्ता (सूत्रधार) की हत्या कर देते हैं क्योंकि यहां 'न' कहने और प्रश्न उठाने की इजाज़त नही है। **मारीच संवाद** के खेला मे भी सामान्य व्यक्ति गलत को गलत कहने और उसे स्पष्टतः अस्वीकार करने की स्थिति में नहीं है क्योंकि उसने मालिक का नमक खाया है और उसकी अन्तरात्मा उसे विद्रोह नही करने देती। यह क्रम पुराणकाल से आज तक ज्यों का त्यों चला आता है—नाटककार के अनुसार हर देश और हर काल मे ज्यों का त्यों। क्या शोषित के पास सिवाय मारे जाने या मर जाने के कोई दूसरा विकल्प नही है? इसके उत्तर में शरद जोशी संकेत रूप से और अरुण मुखर्जी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि मानव का भविष्य स्वयं उसके अपने संघर्ष में निहित है। कोई ऐसा कारण नही है जो हमें गलत को सही मानने पर बाध्य कर सके। किसी भी रूप मे पलायन समस्या का विकल्प नहीं है। मानव नियति और मानव-संघर्ष के प्रति आस्था का स्पष्ट स्वर **मारीच सम्वाद** को अंततः वर्ग-संघर्ष से प्रतिबद्ध चेतना का नाटक बना देता है। व्यक्ति को अंततः वर्ग बनना पड़ेगा—अन्यथा इस शोषण का अंत असम्भव है। यही कारण है कि **अंधों का हाथी** मे 'सूत्रधार—१' की हत्या के बाद 'सूत्रधार—२' आ जाता है और **मारीच सम्वाद** का आम आदमी ईश्वर (बहुत अभिव्यंजनापूर्ण है आम आदमी का यह नाम) शोषक जमींदार का साथ देकर जीने के बजाय अपने शोषित वर्ग के साथ मिलकर संघर्ष करते हुए मरना स्वीकार करता है—और इस तरह सचमुच वह न केवल स्वयं को बचा लेता है बल्कि मानव भविष्य की भी रक्षा कर लेता है। अरुण मुखर्जी शरद जोशी की तरह केवल प्रश्न जगाने में ही विश्वास नही रखते उनके पास समस्या का एक निश्चित समाधान है और वह समाधान उन्हें मार्क्स से मिला है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने इन तीखे, सही और उत्तेजक नाटकों को प्रतीकात्मक दृश्य-बंधों पर सफलता से प्रस्तुत किया। मंच पर विविध-धरातलों का रोचक और नाटकीय उपयोग निर्देशकों की सूझबूझ का प्रमाण प्रस्तुत करता है। **अंधों का हाथी** में निर्देशक जमील अहमद ने मंच पर

जिस तरह हाथी की उपस्थिति का अहसास कराया और नाटक के मूल संवेद्य को जैसे मानव-देह (अभिनेता) के विविध रूपाकारों और मुद्राओं के माध्यम से—मंच की भाषा में—अनूदित कर दिखाया, वह उनकी प्रतिभा का सबूत है। हालांकि कहीं-कहीं नेपथ्य संगीत के साथ चलती मुद्राओं और गतियों के अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं हो पाये। इस नाटक में 'हाथी' के प्रतीकत्व की अनेक अर्थगर्भी व्यंजनाओं और छायाओं के कारण यह नाटक यदि एक ओर बहुआयामी बना तो दूसरी ओर कहीं-कहीं दुरूह और अस्पष्ट भी हो गया।

मारीच संवाद के प्रस्तुतीकरण में निर्देशक ज्योतिस्वरूप ने दो धरातलों वाले सादे प्रतीकात्मक मंच पर न्यूनतम मंच उपकरणों और कल्पनापूर्ण प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से सुदूर अतीत के पुराणकाल, भारत के वर्तमान गाँव और अमरीका के समानान्तर दृश्यों को एक साथ प्रस्तुत कर दिया। इस प्रस्तुति में भारतीय लोक शैली और ब्रेख्त का अद्भुत समन्वय देखने को मिला। एक दृश्य में दूसरे का अनायास विलय और कहीं-कहीं तीनों दृश्यों को एक बिन्दु पर मिला देने में निर्देशक ने अपने माध्यम की सही पकड़ का अच्छा परिचय दिया। परन्तु कुल मिलाकर नाट्यालेख के बिखराव, अत्यधिक मुखरता और अभिधात्मकता के कारण अंत में दर्शकों की स्मृति में नाटक के गम्भीर मंतव्य के स्थान पर हल्के-फुल्के हास-परिहासपूर्ण प्रसंग या रूपान्तरण में जोड़े गए कुछ तात्कालिक सन्दर्भ ही बचे रह गये।

अभिनय की दृष्टि से सूत्रधार—१ और कालनेमि तथा रावण की भूमिका में हेमन्त मिश्र ने आश्वस्त किया। इनके अतिरिक्त अजय गडोदिया (अंधा—१, मुनीम और जमींदार) ज्योतिस्वरूप (अंधा—४ तथा उस्ताद) पंकज सक्सेना (अंधा—२ तथा बाल्मीकि) धीरेन्द्र परमार (अंधा—३ तथा मारीच), एवं राजकिरण कौल (अंधी) आशादेवी (चाली) ने भी अपने कलात्मक अभिनय, समझ और आत्मविश्वास से दर्शकों को प्रभावित किया। जमील अहमद और किरण भोकारी के कल्पनापूर्ण प्रकाश संयोजक और दृश्य-बंध ने नाटकों की सफलता में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन दोनों प्रदर्शनों की छुटपुट खामियों को अनुवीक्षण यंत्र से बड़ा करके देखने दिखाने की बजाय यह तथ्य अधिक महत्वपूर्ण है कि ये नाटक राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रथम वर्ष के छात्रों द्वारा प्रस्तुत किए गये हैं और ये नाटक इनकी लम्बी कठिन यात्रा की शुरुआत मात्र है।

सबसे नीचे का आदमी

पिछले दिनों दिल्ली की अपेक्षाकृत कम चर्चित नाट्य-संस्था 'यवनिका' द्वारा उडिया के युवा नाटककार जगन्नाथ प्रसाद दास के नये नाटक **सबसे नीचे का आदमी** को मनोज भटनागर के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया। श्रीमती कांति देब का हिन्दी अनुवाद सामान्यतः ठीक है परन्तु, मेरे विचार से, इसके संवादों की प्रखरता और चुस्ती शब्दों के नाटकीय प्रयोग की अपेक्षा 'कही जाने वाली बात' के नुकीलेपन के कारण ही अधिक है। मुझे अच्छी तरह याद है नाटक के आरम्भ में, कुमार के बारे में मीना के इस संवाद पर कि, "...तुम्हें याद होगा कि तुम्हें एक डायलाग मुझसे कहना था : मेरे तुम्हारे अस्तित्व में विश्वास नहीं है। लेकिन तुमने कहा : मेरा तुम्हारे सतीत्व में विश्वास नहीं है।" आइफैक्स का भरा हुआ प्रेक्षागृह दर्शकों के ठहाकों से गूंज उठा था। परन्तु ध्यान से देखें तो यह हँसकर उड़ा देने वाला कोई मज़ाकिया संवाद मात्र नहीं है। इसमें फ्रायड के त्रुटियों के मनोविश्लेषण के आधार पर कुमार के अवचेतन में विद्यमान मीना के चरित्र सम्बन्धी विचारों की सही तस्वीर देखने को मिल जाती है, यद्यपि चेतन स्तर पर वह उससे प्यार और विवाह की बातें कर रहा है। इस एक शब्द के आधार पर मीना-कुमार के पारस्परिक सम्बन्धों की कई छिपी परतें उघड़ सकती हैं—परन्तु ऐसे व्यंजनापूर्ण, गंभीर शब्द-प्रयोग नाटक में बहुत अधिक नहीं हैं। फिर भी, जे० पी० दास का यह नया नाटक कुछ हास्य-व्यंग्यपूर्ण सामयिक संदर्भों और दिलचस्प शिल्प-प्रयोगों के कारण रोचक, कथ्य की तीव्रता और प्रासंगिकता के कारण उत्तेजक तथा दाम्पत्य सम्बन्धों के सीमित दायरे से बाहर निकलकर सामान्य-जन के व्यापक सत्य और उसकी नियति से जुड़ने के कारण महत्वपूर्ण है।

यह नाटक राष्ट्रपिता गांधी जी के 'एक अचूक ताबीज, की नेपथ्य घोषणा से आरम्भ होता है जिसमें उन्होंने देशवासियों को निस्वार्थी होकर देश के लाखों-करोड़ो, भूखे-नंगे लोगों के जीवन और भविष्य को बनाने की बात कही है। यह नाटक इसी आदर्श और आज के यथार्थ के बीच की विडम्बना पर आधारित है। जनमत को भेड़चाल मानकर अपने निर्देश पर उसे हांकने वाला पूंजीपति वर्ग (बाबूजी) जब समाज में सबसे नीचे के आदमी (रामू) को ऊंचा स्थान दिलाने के फ़र्ज़ को महज़ नाटक करके पूरा करना चाहता है तो अन्त्योदय जैसा मानवीय आदर्श भी उच्च वर्ग के अपने हितों और स्वार्थों की पूर्ति का एक नया फ़ैशनेबल तरीका भर प्रतीत होने लगता है। प्रस्तुत नाटक हर स्थिति के साथ अपना नकाब बदल लेने वाले चालाक उच्च वर्ग (सत्ताधारी वर्ग) और अपने संकीर्ण स्वार्थों से बुरी तरह चिपके हुए मध्य वर्ग की दोगली नैतिकता का पर्दाफाश करके समाज के असली शत्रु से हमारा नाटकीय साक्षात्कार कराता है। यहां प्रोफेसर, कुमार, मीना और रामू सबके सब वास्तव में

बाबूजी की 'रखैल' हैं, जो असह्य घुटन, अपमान, छटपटाहट और आक्रोश के बावजूद अपने छोटे-बड़े स्वार्थों के कारण कुछ भी कर पाने में असमर्थ हैं। परन्तु दूसरे अंक के अंत तक आते-आते यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इसी पालतू भीड़ में एक व्यक्ति (वर्ग) ऐसा भी है,—जो समय आने पर सत्ता और व्यवस्था की सबसे बड़ी और मज़बूत ताकतों के खिलाफ़ एक जबरदस्त चुनौती बनकर खड़ा हो सकता है। वास्तव में यही वह वर्ग है जिसे मार्क्स ने एक हो जाने और निर्णायक लड़ाई लड़ने को कहा था, क्योंकि इसके पास सिवाय अपनी गुलामी की जंजीरों के खो देने के लिए और कुछ भी नहीं है। भले ही आज उसे बंदर का नाच करने और मदारी का जंबूरा बनने को विवश होना पड़ रहा हो परन्तु मानव जाति का भविष्य अब इसी के हाथों में है और इसके उदय के लिए कोई बाहर से नहीं आएगा—सारी प्रतीक्षा निरर्थक है—इसे स्वयं उठना और जूझना होगा। मध्यम वर्गीय कुमार द्वारा मूंगफलियां खाकर फेंका गया खाली लिफाफा ही दूसरे अंक के अंत तक आते-आते सबसे नीचे के आदमी रामू के हाथों में पड़कर व्यवस्था-विरोध का अत्यन्त सशक्त प्रतीक बन जाता है और अपनी सम्पूर्ण सांकेतिकता और व्यंजना के साथ एक सही संघर्ष की शुरुआत को पूरी नाटकीयता के साथ रेखांकित करता है। परन्तु इसी यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी है; और नाटक का तीसरा अंक पूंजीपति वर्ग द्वारा इस संघर्ष को खत्म करने के लिए अपनाए जाने वाले विविध हथकंडों का चित्रण करता है। नाटककार के अनुसार मध्यम वर्ग भी इस घृणित षड्यंत्र में शामिल है और अंत में इन तमाम सामाजिक शक्तियों का ध्रुवीकरण होना अनिवार्य है। नाटक के अंत में प्रोफेसर और कुमार के बाबूजी के पीछे खड़े होने और उनके सामने अपेक्षाकृत नीचे के धरातल पर रामू-श्याम और मीना का एक साथ खड़े होना इसी ध्रुवीकरण का द्योतक है। परन्तु प्रभ-विष्णुता की दृष्टि से तीसरे अंक में, 'प्लान आफ एक्शन' के बाद से नाटक शिथिल पड़ने लगता है और सारा नाटक लिफाफे के टाइम बम तथा छः बजे के सस्पेंस से बंधकर अपनी गम्भीरता को खो देता है। बाबू जी के चैपलिन और हिटलर की पोशाकें पहन कर पैंतरे बदलने में मोहित चैटर्जी के गिनी पिग की भी याद आती है।

प्रस्तुतीकरण में अनुवादक-नाटककार प्रोफेसर को करीकेचर की तरह पेश करके उसकी चरित्रगत विडम्बना को रवि बासवानी ने बड़ी समझदारी, संवेदनशीलता और कलात्मकता से प्रस्तुत किया। उनका अभिनय इस प्रदर्शन की उपलब्धि था। बाबूजी के रूप में बनवारी तनेजा तथा रामू (श्याम) के रूप में पंकज कपूर ने सधा हुआ अभिनय किया परन्तु कथ्य की दृष्टि से केन्द्रीय भूमिकाओं वाले चरित्र होने के बावजूद इनमें कुछ वैविध्यपूर्ण और चुनौतीपूर्ण जटिलताएं नहीं थीं। सम्भवतः इसीलिए बनवारी और पंकज अपनी प्रतिभा का

कोई नया आयाम उद्घाटित नहीं कर पाए। मीना के चरित्र में अभिनय की अनेक सम्भावनाएं थीं परन्तु साधना भटनागर ने उसे बहुत स्थूल और सतही धरातल से ग्रहण किया। तीसरे अंक मे मीरा का भजन और गीता पर आधारित उसका लम्बा संवाद काटकर भी निर्देशक ने इस चरित्र के संगत विकास में बाधा पहुंचाई। कुमार की भूमिका में अभय भार्गव ने चरित्र को गहराई से समझे बिना एकायामी अभिनय किया। सुशील चौधरी की प्रकाश-व्यवस्था तथा रौबिनदास की दृश्य-परिकल्पना प्रभावपूर्ण थी। कमियों के बावजूद इस नाटक की यह प्रस्तुति एक तीव्र नाट्यानुभूति देती है और अपना निजी मुहावरा तलाशने की ईमानदारी और रचनात्मक बेचैनी नाटककार और उसके नाट्य-लेखन के भविष्य के प्रति आश्वस्त करती है। निस्संदेह यह एक उत्तेजक और सार्थक नाटक है।

बुलबुल सराय

रस गंधर्व के ख्यातिप्राप्त युवा नाटककार मणि मधुकर के नये नाटक बुलबुल सराय को दिल्ली के लिटिल थ्येटर ग्रुप ने बृजमोहन शाह के निर्देशन मे प्रस्तुत किया। कथ्य, शिल्प, भाषा और शैली—सभी दृष्टियों से यह एक जटिल बहुआयामी तथा कठिन नाटक है। ऐतिहासिक संदर्भ में आपात्कालीन परिस्थितियो का चित्रण, प्रेम और करुणा के मधुर गीत गाती बुलबुल की हत्या तथा उसकी सराय के निर्माण की लोक-कथा, छोटे-बड़े पाँव वाली माँ-बेटी के विडम्बनापूर्ण वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से गड्ड-मड्ड हो गए मानवीय सम्बन्धो एवं सम्बोधनों की गहरी छानबीन और नयी व्याख्या के साथ-साथ मायासुर के तीन बन्द दरवाजों की अर्थपूर्ण-मनोरंजक कथाएँ निर्देशक के लिए लोक-शास्त्रीय, अतिकल्पना (फँटेसी) तथा एब्सर्ड रंग-शैलियों और यथार्थवादी अभिनय-पद्धति के साथ शैलीबद्ध अभिनय के कल्पनापूर्ण अभिनव प्रयोग की छूट देती हैं। इस प्रस्तुति में निर्देशक शाह ने आलेख में निहित सभी सम्भावनाओं का दोहन करके इन सभी रंगतत्वो का रोचक और सार्थक उपयोग करने का प्रयास किया।

बुलबुल सराय का प्रचण्ड सेन निरंकुशता और साम्राज्यवाद का प्रतीक है जो देश की सुरक्षा और स्वतन्त्रता के नाम पर प्रजा में प्रलयकालीन परिस्थितियों का भय संचार करके भारी सेना एकत्र कर लेता है तथा अपनी निजी सत्ता, शक्ति निहित व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा के लिए उसका इस्तेमाल करता है। प्रलयकालीन स्थिति स्पष्टतः यहाँ आपात्कालीन स्थिति की पर्याय है। प्रलय काल का यह सर्वव्यापी और सर्वग्रासी भय सामान्य-जन को उसके विशिष्ट व्यक्तित्व और जीवन के व्यापक एवं मूल्यवान सन्दर्भों से काटकर उसे आत्म-सीमित, कायर तथा नाम-पहचान हीन 'क', 'ख', 'आ', 'ई' इत्यादि बना देता

है। निर्देशक ने डरे हुए चेहरों तथा फटी हुई आँखों वाले घुटे-दबे संत्रस्त लोगों की यातना को 'त्राहिमाम्-त्राहिमाम्' के समवेत स्वर एवं टुच्ची खुदगर्जी को 'स्वार्थी कहीं के' की वैविध्यपूर्ण पुनरावृत्ति के माध्यम से नाटक के आरम्भ में ही भली-भाँति रेखांकित कर दिया। यहाँ मटमैले काले वस्त्रों, भूरी-कत्थई सी पृष्ठभूमि तथा लाल प्रकाश का प्रयोग अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। यहाँ पात्रों की मुद्राएँ, गतियाँ तथा संयोजन दर्शनीय थे। आत्मरक्षा के लिए सराय में ठुँसे हुए असहाय, असमर्थ और भयभीत पात्रों—क, ख, आ, ई, युवक तथा बूढ़ी औरत—के उद्विग्न जीवन में नवीन चेतना का संचार करने तथा शुद्ध मनोरंजन को जीवन की कटु वास्तविकताओं से जोड़ने में नट-नटी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रस्तुति में रमेश कपूर तथा गीता शर्मा ने नृत्य, गान, गति, मुद्रा और संवाद-लय के अद्भुत संयम तथा निरायास, स्वाभाविक, और निर्दोष अभिनय से निःसन्देह इन पात्रों को जीवन्त कर दिखाया। 'ख' की विविध भूमिकाओं में ज्ञानेश मिश्रा ने भी पूरा न्याय किया तथा दर्शन सहेल, अखिलेश खन्ना, शबी मुहम्मद और रेणु वर्मा भी सामान्यतः ठीक ही रहे परन्तु नीरू भार्गव को तीखी आवाज तथा मुहम्मद अय्यूब द्वारा कुछ शब्दों के भ्रष्ट उच्चारण के कारण संस्कारी दर्शक के मन को कहीं-कहीं ठेस लगी। आपात्काल को प्रलयकाल बनाकर तथा लाल बुझक्कड़ जैसे स्वनिर्मित पात्र के माध्यम से नाटक के बिखरे हुए विचार सूत्रों को जोड़कर निर्देशक ने समझदारी का परिचय दिया। लाल बुझक्कड़ दैनिक जीवन के सामान्य साधारण प्रसंगों को गहरा दार्शनिक वैचारिक स्तर प्रदान करके नाटक को एक नया आयाम देता है परन्तु संक्षिप्त और स्थिर चरित्र वाले इस पात्र को आद्यन्त मंचाग्र पर बनाए रखना अभिनेता और दर्शक दोनों के लिए ही काफी भारी पड़ा। शैलीबद्ध अभिनय शाह की अपनी विशेषता है और सम्भवतः इसीलिए कठपुतली शैली का न्याय-दृश्य सार्थक एवं गम्भीर व्यंग्य के साथ-साथ नैन-रंजक और मनोरंजक भी सिद्ध हुआ। बिन्दु की प्रकाश-व्यवस्था तथा सुरेश के मुखौटे असरदार थे। कुलदीप लाम्बा का संगीत मधुर और सरस था परन्तु "मेरा मन मोह लिया" जैसे दो-एक गीतों को छोड़कर गायक उसका पूर्ण लाभ नहीं उठा सके। नाट्यालोचकों की कटु आलोचना का प्रसंग भी आरोपित और लम्बा होने के कारण असंगत ही प्रतीत हुआ।

राजस्थानी लोक-नाट्य तत्वों पर आधारित **बुलबुल सराय** एक विशिष्ट नाटक है। यह रंगकर्मी, दर्शक और समीक्षक—सभी से एक विशिष्ट समझ, अनुशासन और जागरूकता की मांग करता है। इसका एक विशिष्ट मुहावरा और नया व्याकरण है। परम्परागत प्राध्यापकीय 'तत्व-चिन्तन' के खिलाफ नाटककार यहां कुछेक प्रभावशाली नाट्य-बिम्बों, समसामयिक संदर्भों, सार्थक संकेतों तथा विशिष्ट मानसिकताओं के माध्यम से एक जीवन्त, उत्तेजक और प्रासंगिक नाट्यानुभव देने का प्रयत्न करता है।

जुलूस

दिल्ली के विभिन्न भागों में पिछले लगभग चार महीनों से बादल सरकार के बहुचर्चित नुक्कड़ नाटक मिछिल के यामा अग्रवाल द्वारा किए गए हिन्दी रूपान्तर जुलूस को 'प्रयोग' की ओर से एम० के० रैना के निर्देशन में लगातार प्रस्तुत किया जा रहा है। बिना किसी विज्ञापन, तामझाम, प्रेक्षागृह, अनुदान, सहायता या टिकिट-बिक्री के आम आदमी का यह नाटक आम आदमी के बीच बड़े अनौपचारिक और आत्मीय ढंग से दिल्ली के पार्कों, नुक्कड़ों, चौराहों, मैदानों, स्कूलों, कालेजों, संस्थानों और गली-कूचों में सभी वर्ग के दर्शकों को अपने सहज-सरल रूप और उत्तेजक-तीखे कथ्य से निरंतर प्रभावित कर रहा है।

यहाँ इस बात की खोज बेमानी है कि विदेशों में 'स्ट्रीट प्ले' कब और कैसे शुरू हुए तथा स्वयं बादल सरकार ग्रोतोवस्की, रिचर्ड शेखनर या जूलियन बेक से कितने और किस रूप में प्रभावित हुए हैं। जहाँ तक दिल्ली के हिन्दी रंगमंच का प्रश्न है— जुलूस निस्संदेह एक अभूतपूर्व और अनूठा रंग-प्रयोग है।

नाटककार की कल्पना के अनुरूप ही निर्देशक ने इसकी प्रस्तुति में संश्लिष्ट-रंगमंच के उपकरणों (विशिष्ट-मंच, चित्रकला, स्थापत्य, कला, माइक, प्रकाश-व्यवस्था इत्यादि) का पूर्णतः बहिष्कार कर रंगमंच के मूल तर्क और उसके सही व्याकरण को तलाशने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अभिनेता की देह और वाणी के बहुविध नाटकीय उपयोग तथा कलाकारों और दर्शकों के सीधे सम्बन्ध एवं सार्थक संवाद से अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया गया है।

नाटक का बुनियादी सरोकार, आम आदमी को उसके लाभ और कल्याण के नाम पर इस्तेमाल करने वाले विभिन्न प्रकार के वादों, सिद्धान्तों, सम्प्रदायों, नारों, विश्वासों और जुलूसों के षड्यंत्रों का पर्दाफाश कर उसे जागरूक और सचेत बनाना है। इसके लिए नाटककार अपने समकालीन जीवन और जगत की क्रूरता, अमानवीयता, स्वार्थपरता और व्यापक मूल्यांधता के भयावह चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वह राजनीतिक सामाजिक, तथा धार्मिक अत्याचार, हिंसा, शोषण और अन्याय के समक्ष आम आदमी की नपुंसक उदासीनता एवं खामोशी की विडम्बनापूर्ण त्रासदी को रेखांकित करके जन-सामान्य की जड़ता को तोड़ने का सार्थक प्रयत्न करता है। हर वक्त, सरेआम खून हो रहा है और सत्ता की यथास्थितिवादी नीतियों का प्रतीक सिपाही आँखें बंद करके 'सब ठीक है' के नारे लगाकर हत्या, लूटपाट और अव्यवस्था के कोढ़ पर शान्ति, सुरक्षा तथा व्यवस्था का आकर्षक पर्दा डाल रहा है। लाशों के ढेर के पास से कोई निर्विकार, निर्द्वन्द्व और प्रसन्न चित्त गाता हुआ चला जा रहा है—"सारे जहाँ से इच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा···" और हम यानी आम आदमी चुप बैठे यह तमाशा देख रहे हैं। मगर यह सब कब तक ? नाटककार की प्रतिबद्धता

किसी पार्टी या गुट से नहीं है। वह समान रूप से सबको उघेड़ता है और आम आदमी के खिलाफ उनकी साजिश को नंगा करता है। उसकी सामाजिक जागरूकता और मानव-भविष्य के प्रति आस्था में संदेह नहीं किया जा सकता। यह किसी प्रकार की अंधता नही बल्कि सभी प्रकार की अंधता के खिलाफ एक जबरदस्त आन्दोलन है। नाटक के अन्त में आम आदमी द्वारा स्वयं रास्ता तलाशने का संकेत अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संरचना-शिल्प की दृष्टि से जुलूस कुछ तीव्र-नाटकीय घटनाओं का एक ऐसा कोलाज है जो चेतना-प्रवाह की तरह तरल, लचीला और असंगत प्रतीत होने के बावजूद कहीं बहुत भीतर से एक नये व्याकरण और रंग-अनुशासन से संयोजित है। गोलाकार त्वरित गतियाँ, मुखर मुद्राएँ, चौमुखी संयोजन, चीखते हुए संवाद, गाने, भजन-कीर्तन और 'राम नाम सत्य हैं' के साथ-साथ हँसती-कचोटती पैरोडियो, क्रियाकलापों तथा संवादों के सामंजस्यपूर्ण अथवा वैषम्यपूर्ण विविध संयोजनों से उद्भूत अद्भुत नाट्य-प्रभाव इस प्रस्तुति की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

दिल्ली रंग-जगत के लिए अपेक्षाकृत कम चर्चित नाम होने के बावजूद बूढ़े और कोतवाल के रूप में विवेक तथा आदिल और मुन्ना एवं गुरुदेव की भूमिकाओं में हबीब और वेद प्रकाश अपनी अलग पहचान बनाते हैं।

नाटक और रंगमंच से भागकर अपने-अपने घरों या सिनेमा-हालों में जा बैठने वाले दर्शक से अपना पुनर्सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वयं नाटक को उनके पास जाना होगा और इस ऐतिहासिक कार्य में निस्संदेह जुलूस जैसे नाटकों की निश्चित और महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

द फादर

राजधानी के उत्साही युवा रंगकर्मियों की सक्रिय नाट्य-संस्था 'रुचिका' ने अपने लगभग पांच वर्षों के आरम्भिक जीवन में ही भारतीय और विदेशी भाषाओं के अधिकांश महत्वपूर्ण नाटक अंग्रेजी-हिन्दी में सफलतापूर्वक प्रस्तुत करके अपने आप में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। पिछले दिनों 'रुचिका वीक एण्ड थ्येटर' के अन्तर्गत स्ट्रिंडबर्ग के सुप्रसिद्ध नाटक द फादर को हिन्दुस्तानी में देखना एक जीवंत अनुभव था। मोहन महर्षि द्वारा अनूदित इस नाटक के निर्देशक थे—फैजल अल्काजी। मानवीय दुर्बलताओं, विडम्बनाओं और बर्बरताओं के नग्न-नाटकीय चित्रण, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के क्रूरताजन्य नारकीय मनोयुद्ध, चेतन-अवचेतन द्वन्द्व के सूक्ष्म-गहन विश्लेषण और बदलते हुए मूल्यों की टकराहट के प्रभावपूर्ण प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से १८८७ का यह नाटक आज भी उतना ही प्रासंगिक, यथार्थ और जीवन्त प्रतीत होता है। पति-पत्नी सम्बन्धों के लगातार असह्य होते जाने की इस तनावपूर्ण त्रासद

नाट्य-कथा को नाटककार ने अत्यन्त रोचकता और मनोवैज्ञानिक प्रामाणिकता से प्रस्तुत किया है। पारस्परिक अविश्वास और गलतफहमी के शिकार कैप्टन एडोल्फ तथा उसकी पत्नी लौरा, बेटी बर्था की कसौटी पर अपने-अपने अधिकार, बल और अहंकार के शक्ति-परीक्षण में कुछ ऐसी आत्महंता परिस्थितियो का निर्माण कर बैठते है जिनके चंगुल में फंसकर वे व्यक्तिगत एवं पारिवारिक विनाश के उस बिन्दु तक जा पहुंचते हैं, जहां क्रूरता आनंद का पर्याय बन जाती है और जहां से पीछे लौटना सम्भव नहीं होता। कुछ गुह्य मनोवैज्ञानिक कारणों और नितान्त व्यक्तिगत स्वार्थों से परिचालित पत्नी पति को अन्ततः पागलपन की हद तक खीच ले जाती है। वल्दियत का उलझा हुआ नाजुक सवाल पति को इस निष्कर्ष पर लाता है कि, 'औलाद सिर्फ औरत के होती है, मर्द तो बेऔलाद ही मरता है। नाटककार स्ट्रिंडबर्ग का मूल सरोकार कैप्टन के पागल हो जाने या उसके मर जाने से नहीं है बलिक उन कारणों और परिस्थितियों की तलाश से है जो उसे जबरदस्ती उस परिणति तक ढकेल ले जाती हैं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की इस अनिवार्य त्रासद नियति के लिए निर्देशक पति-पत्नी मे से किसी एक को जिम्मेदार नहीं मानता, बल्कि उनके बीच की उन परिस्थितियो को रेखांकित करना चाहता है, जो उनके विनाश के लिए मूलतः उत्तरदायी है। परन्तु निर्देशक की इच्छा और कोशिश के बावजूद प्रस्तुति में संघर्ष, विघटन और विनाश की पूरी जिम्मेदारी औरत की ही दिखाई देती है। अनेक दृष्टियो से यह नाटक मोहन राकेश के **आधे-अधूरे** के बहुत नजदीक लगता है।

कैप्टन एडोल्फ की भूमिका मे आलोक नाथ ने पति की छटपटाहट, झुंझलाहट, पीडा, निरीहता और बेचैनी के साथ-साथ प्रेमी-पुरुष के अधिकारपूर्ण दम्भ और मर्मांतक द्वन्द्व को अत्यन्त संवेदनशीलता तथा जीवन्तता से प्रस्तुत किया। **शुतुरमुर्ग, सखाराम बाइंडर** तथा **द फादर** की जटिल एवं वैविध्यपूर्ण भूमिकाओं को अद्भुत आत्मविश्वास और पूर्ण सफलता से अभिनीत करके आलोक नाथ ने इस वर्ष के श्रेष्ठ अभिनेताओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। एक चालबाज और कुशल शिकारी की तरह पति को अपने शिकंजे में जकड़ती और निरीह शिकार को छटपटाते देख आनन्दित होती पत्नी लौरा के रूप मे नोना चावला का अभिनय भी कम प्रभावपूर्ण नहीं था। प्रतिशोध भरी उनकी बड़ी-बड़ी खूंखार आंखें और अपने को बेगुनाह सिद्ध करती उनकी चालाक मासूमियत भरी मुख-मुद्राएं एक प्रतिभा-सम्पन्न अभिनेत्री के रूप में नोना के अभिनय-जीवन का एक नया आयाम उद्घाटित करती हैं। योहान के रूप में केशव आनन्द तथा डा० ऑस्टरमार्क के रूप में उमेश फाल्केर ने भी अपने-अपने चरित्रों से पूरा न्याय किया। डरी हुई, कुण्ठित तथा द्विविधा-

ग्रस्त बेटी की भूमिका में नीति आनंद और कैप्टन से बेटे सा प्यार करती परन्तु परिस्थितियों से विवश मारग्रेट के रूप में अंजली आनंद ने भी दो एक स्थानों को छोड़कर स्तरीय अभिनय का प्रदर्शन किया। पवन मल्होत्रा का यथार्थवादी दृश्य-बंध और मोना चावला का संगत वस्त्र-विन्यास नाटक के देश-काल तथा परिवेश को साकार करने में पूर्णत: समर्थ था। सुनील अरोरा की कल्पनापूर्ण प्रकाश-व्यवस्था तथा दीपक गिडवानी की स्थितियों, मन: स्थितियों को गहराती संगीत-योजना ने भी नाटक के समग्र-प्रभाव को सघन करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुल मिलाकर यह एक सुव्यवस्थित, कलात्मक और उत्तेजक प्रस्तुति थी।

बेगम का तकिया

आदमी फिक्र क्यों करता है ? दुनियां में अमीर कौन है ? कंगाल कौन है ? दौलत क्या है ? औरत क्या है ? जिज्ञासु क़तारशाह द्वारा बाबा दरियाशाह से पूछे गए इन महत्वपूर्ण प्रश्नों का नाटकीय उत्तर है—बेगम का तकिया।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगरत वर्ग की ओर से प्रस्तुत पंडित आनंद कुमार के उपन्यास बेगम का तकिया का नाट्य रूपान्तर और निर्देशन ·· बौएजक, बिच्छू तथा शेर अफ़गन के ख्याति-प्राप्त युवा निर्देशक रंजीत कपूर ने किया। नाटक का घटनास्थल उत्तर-प्रदेश और हरियाणा का एक सीमावर्ती गाँव बगदाद है। मुसलमान राजमिस्त्रियों के इस गाँव को मीरा के माध्यम से तवायफ रौनक बेगम 'रौनकाबाद' बनाने की असफल कोशिश करती है। उसकी तमाम आक्रामक और अन्यायी शक्तियों के विरुद्ध अकेले और कमजोर मगर ईमानदार, सच्चे, निश्छल एवं आस्थावान 'पीरा' की लड़ाई प्रकारान्तर से मानव-सभ्यता के लम्बे इतिहास तथा पश्चिमी और भारतीय (भौतिक बनाम आध्यात्मिक) जीवन-मूल्यों के अनन्त संघर्ष की प्रतीकात्मक कथा बन जाती है। बाबा दरियाशाह ने सांसारिक और सामाजिक दायित्वों से अलग होकर जिस जीवन-सत्य को पाया है पीरा उसे उन्हीं में रहकर और उनसे निरन्तर जुझते हुए उपलब्ध कर रहा है। उसने निष्काम कर्म तथा 'अमानत में ख्यानत' जैसे सिद्धान्त या सूक्ति-वाक्य नहीं पढ़े-सुने, लेकिन इनका सार-तत्व उसने अपने जीवन में सहज और स्वाभाविक ढंग से आत्मसात कर लिया है। इसलिए यदि एक की नजर में वह पागल है तो दूसरे की निगाह में महात्मा [illegible]

उपन्यास के मूल अन्त के विरुद्ध जाकर निर्देशक ने नाटक के अंत को कुछ-कुछ वामपंथी रंग देने की कोशिश की है··· "कानून के मुहाफ़िजों पर अगर सुबह हो जाए तो मजलूमों को खम ठोक देने चाहिए।" इस विषय में पूछने पर निर्देशक ने बताया कि "मैं किसी पार्टी का बिल्ला नहीं लगाता। [illegible] मुझे आदमी और उसकी सामूहिक ताकत पर अटूट विश्वास है। उपन्यास [illegible]

चामत्कारिक तथा मैलोड्रैमेटिक अंत मुझे पसंद नहीं आया। फिर भी, नाटक का वर्तमान अंत लेखक की पूर्ण सहमति से ही रखा गया है। कथानक का मिजाज लोक-कथात्मक या परिकथात्मक-सा है और उस दृष्टि से भी यह सुखद अंत संगत है।"

नाटक के परिवेश और पात्रों के अनुरूप प्रस्तुति मे भी देहाती अनगढ़ता या सहजता है। संवादों की (उर्दू) भाषा में बोली और बोलने के अंदाज से आश्चर्यजनक वैविध्य और प्रभाव पैदा किया गया है। निर्देशक ने रंगमंच के महाकाव्यात्मक आयाम को उपलब्ध किया है और 'मेघदूत' के मुक्ताकाशी विराट मंच के आठ से भी अधिक अभिनय-क्षेत्रों का नाटकीय उपयोग करके लम्बे उपन्यास के अधिकांश प्रसंगों को प्रदर्शित करने में सफलता प्राप्त की है। इसमे कोरस का सहयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। विद्यालय के प्रशिक्षित, कुशल और अनुभवी कलाकारों का जीवन्त अभिनय प्रस्तुति की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। यूं तो रौनक बेगम के रूप में उत्तरा बावकर तथा मीरा, बुन्दू, अल्ला बंदे, सबरंग तथा सरफू के रूप में क्रमशः विजय कश्यप, राम गोपाल बजाज, सुधीर कुलकर्णी, रघुवीर यादव तथा चन्द्रशेखर वैष्णवी इत्यादि सभी अभिनेताओं ने प्रभावित किया, परन्तु दुनियादारी का मजाक उड़ाती अपनी निश्छल हँसी, देह की त्रिकोणात्मक भंगिमा, हाथों तथा चेहरे की विशिष्ट मुद्राओं और लापरवाह पगलाई सी चाल के कारण मीरा के रूप में के० के० रैना ने अभूतपूर्व अभिनय किया। अपने कोमल और कठोर- चरित्र-रूपों तथा हरियाणवी अंदाज मे बोले गए उर्दू संवादों के बल पर मधु मालती मेहता ने अमीना को नाटक का सर्वाधिक विश्वसनीय चरित्र बना दिया। इसी प्रकार स्थित-प्रज्ञ तथा निर्द्वन्द्व मलंग बाबा दरियाशाह की सपाट भूमिका को राजेश विवेक ने अपनी अभिनय-प्रतिभा के स्पर्श से नाटकीय और जीवन्त कर दिखाया। 'क्यू' और 'टाईमिंग' की दृष्टि से सुधीर तथा रघुवीर की जोड़ी विशेष उल्लेखनीय रही। जी० एन० दासगुप्ता एवं जी० एस० मराठे की प्रकाश-योजना कल्पनापूर्ण थी तथा नीलम शर्मा की संगीत-परिकल्पना प्रभावोत्पादक।

निर्देशन, अभिनय और तकनीकी दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ और लोकप्रिय प्रस्तुति होने के बावजूद उपन्यास और नाटक के माध्यम-गत अंतर (विशेषतः विस्तार तथा एकाग्रता), अन्तर्द्वन्द्व हीन वर्ग पात्रों के एकायामी फिल्मी चरित्रांकन, नाटक के मूल स्वर और अंत की संगति तथा समकालीन यथार्थ के संदर्भ में प्रस्तुत मूल्यों की प्रासंगिकता जैसे प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण और उपेक्षणीय नहीं हैं।

रंग साक्षात्कार

तुम मुखातिब भी हो, करीब भी हो,
तुमको देखूं या तुमसे बात करूं।

□ फ़िराक

८

रंग-साक्षात्कार

क

नाटककार लाल से सम्वाद : पूर्वाभ्यास से पटाक्षेप तक

नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, समीक्षक, उपन्यासकार, कहानीकार, जीवनी-लेखक वगैरह-वगैरह के विविध रूपों को यदि आप एक ही व्यक्ति में देखना चाहें तो अन्ततः आपकी भेंट जिस व्यक्तित्व से होगी, उसका नाम निश्चय ही डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल होगा। और एक मित्र की तरह आपको राय दूं, उनके 'लेटेस्ट' नाटक को लेकर कभी किसी से शर्त मत लगाइएगा—चाहे आप स्वयं को नाटक का जागरूक पाठक या उनका अत्यन्त अन्तरंग और निकट का व्यक्ति ही क्यों न मानते हों। क्योंकि निर्णय के लिए जब तक आप डॉ० लाल के पास पहुंचेंगे, तब तक निश्चय ही वह कोई न कोई नया नाटक लिख चुके होंगे, और आप शर्त हार जायेंगे। मुझे याद है एक बार 'इतना ज़्यादा लिखने का कारण' पूछने पर उन्होंने कहा था, "मुझसे देश का दारिद्र्य नहीं देखा जाता। सम्भव होता तो अनाज भी उगाता अन्न की कमी दूर करने के लिए; परन्तु वह मेरा स्वधर्म नहीं है। इसलिए नाटक और रंगमंच की दरिद्रता दूर करने की भरसक कोशिश कर रहा हूं। इसीलिए जब कोई रंगकर्मी मेरे पास सहायता मांगने आता है तो मैं उसे खाली हाथ नहीं लौटा पाता। मुझे लगता है यह भी मेरी ही लड़ाई का योद्धा है तो एक तीर मैं उसे भी थमा देता हूं।" एक मजदूर की तरह सुबह से रात तक काम करता हूं मैं।" और उस समय उनकी आंखों में विवशताजन्य करुणा की तरलता और चेहरे पर अटूट संकल्प की दृढ़ता थी।

हिन्दी नाटक और रंगमंच के प्रति पूर्णतः समर्पित इस व्यक्ति से मिलने के लिए जब मैं रवीन्द्र भवन पहुंचा तो वह बाहर लॉन पर बैठे हुए दाढ़ी-मूछ वाले हृष्टपुष्ट अभिनेता राजेश-विवेक को व्यक्तिगत की 'वह' बनाकर

स्वयं 'मैं' बने नाटक के पूर्वाभ्यास में व्यस्त थे। औपचारिक-सी दुआ-सलाम के बाद जब तक मैं बातचीत के लिए अपनी फाइल खोलूं, तब तक करीब करीब छः-सात रंगकर्मी वहां और एकत्र हो गये और मुझे उनकी उपस्थिति एवं पारस्परिक हंसी-मजाक के बीच में ही ये 'इन्टरव्यू' लेना पड़ा। इस अनौपचारिक, हल्के-फुल्के और खुले वातावरण में मैंने डॉ० लाल से अपना पहला प्रश्न किया, "आपमें नाटक के प्रति लगाव कब और कैसे पैदा हुआ?" तो वह हँस पड़े और बोले "अरे भई, ये तो बड़ा कठिन सा प्रश्न पूछ लिया आपने।" इससे पहले कि मैं "क्यों?" कहूं उन्होंने स्वयं ही कहा, "इसलिए कि कोई दिन, महीना या सन् याद नहीं कर सकता। जब से होश संभाला तभी से अपने गांव की रामलीला और रासलीला में मैं भाग लेने लगा था। बचपन यही सब देखने-करने और कुश्ती लड़ने, लाठी चलाने, कबड्डी खेलने, तैरने और भैंस चराने में ही बीता। जब भी कोई रामलीला पार्टी गांव से वापस जाने को होती थी तो मन बहुत उदास हो जाता था। अक्सर मैं उनके पीछे-पीछे दूर तक चला जाता परन्तु अन्ततः घर लौटना पड़ता था। इन लीलाओं के बाद 'नाटक' से मेरा पहला परिचय हाई स्कूल के दिनों में हुआ। हमारे एक प्रिन्सीपल हुआ करते थे—श्री बी० एन० चक्रवर्ती। बड़ा शौक था उन्हें नाटक का। जन्माष्टमी के अवसर पर किसी पौराणिक नाटक का निर्देशन उन्होंने किया था—अपनी लड़कियों के साथ मुझे भी उन्होंने एक रोल दिया था—'दुर्योधन' का।

इसके बाद इलाहाबाद आया। नाटक पढ़ना शुरू किया। उन दिनों डॉ० रामकुमार वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों की धूम थी। मैंने जब ये नाटक पढ़े तो सिर पीट लिया। सोचा—इनमें 'नाटक' कहां है? इनमें तो सिर्फ बोलना ही बोलना है, करना क्या है? बड़ी निराशा होती थी उन दिनों वे सब नाटक पढ़कर। तभी सुना बंगाल में कोई शम्भू मित्रा हैं और बम्बई में एक अल्काजी साहब हैं जो बड़ा अच्छा नाटक करते हैं। बस उनका काम देखने की धुन सवार हो गई। बिना टिकट कलकत्ता जा पहुंचा। उन दिनों 'न्यू एम्पायर' में टैगोर लिखित शंभु मित्रा का प्रसिद्ध प्रदर्शन 'रक्त करबी' चल रहा था। हावड़ा ब्रिज से पैदल चलते-चलते पूछ-पाछ कर जैसे-तैसे हाल में पहुंचा तो 'हाउस फुल'। वहां भी जबरदस्ती बिना टिकट ही घुसना पड़ा। उस प्रदर्शन से मैं सचमुच बहुत प्रभावित हुआ। दूसरे दिन शम्भू मित्रा के घर जा पहुंचा। वह बड़े भारी 'स्नॉब' लगे। नाटक समझने की बात कही तो उन्होंने मुझे स्टैन्स्लेवस्की की किताब माई लाइफ इन आर्ट पढ़ने की सलाह दी जिसकी प्रति आज भी मेरे पास मौजूद है। बस इसी तरह बिना टिकट बम्बई के जय-हिन्द कालेज में अल्काजी का 'इडिपस रेक्स' देखा। नया अनुभव पाकर खुशी-खुशी वापस लौटा, तो पता चला कालेज से नाम ही कट गया है। बड़ी मुश्किल से तो दाखिला मिला था, उस पर यह आफत! खैर, वर्मा जी के सामने पेशी

हुई, बोले, 'सुना है तुम्हें नाटक-वाटक का बड़ा शौक है ! तो हमारा नाटक करो।' तब तक मैं 'हिस्ट्रियानिक सैंसिबिलिटी' के बारे में पढ़-समझ चुका था।"

डॉ० लाल अपनी रौ में बोलते चले जा रहे हैं, जैसे वे अतीत के दृश्य अभी भी उनकी आंखों के सामने घटित हो रहे हों'''मैं लिखना छोड़ कर उनकी मुख-मुद्राएं देखने लगता हूं कि अचानक एक गहरी सांस लेकर वह कहते हैं, "''' सो भई, नाटक तो मेरे रक्त में ही है।" मैं भी एक प्रकार से चौंक कर पूछ बैठता हूं, "हां, वह तो ठीक है, परन्तु आपने नाटक लिखना कब शुरू किया ?" वह फिर अतीत की ओर लौटते हुए कहने लगे, "बस यूं समझो कि तत्कालीन नाटकों (?) की प्रतिक्रिया या विरोध में ही ये शुरुआत हुई।" उस घटना के समय उस समय के नाटककारों ने 'घमंडी लड़का' कहकर मेरी बातों को मजाक में उड़ा देना चाहा था। साथियों ने उकसाया, "तुम सही नाटक लिखकर उनकी बातों का उत्तर दो।" और सचमुच मैंने एक एकाकी लिख डाला—मेरा पहला नाटक—ताजमहल के आंसू ! मजा ये कि तब तक न आगरा देखा था, न ताजमहल। यूनिवर्सिटी मैगजीन में वह छप भी गया और कनवोकेशन के अवसर पर खेला भी गया। वाइस चांसलर, चीफ मिनिस्टर, गवर्नर के साथ बैठ कर उसे देखा और अपने फटे हाल में ही उनके साथ चाय भी पी। सम्मान और प्रोत्साहन पाकर सादा कैक्टस लिखा—एक नये प्रकार का नाटक—और उसमें डुगडुगी हाथ में लेकर स्वयं सुधीर की भूमिका भी की। अब तब से ये डुगडुगी लगातार बज ही रही है।"

'ये तो हुई प्रतिक्रिया की बात, अब आप यह बताइए कि विदेशी या भारतीय नाटककारों में से कौन-कौन आपको प्रिय लगते हैं और क्यों ?' मेरा ये प्रश्न डॉ० लाल को कोई खास अच्छा नहीं लगा, (हालांकि मैंने 'प्रभावित' होने की बात नहीं पूछी थी) तब भी उन्होंने आधे मन से उत्तर देते हुए कहा, "शेक्सपियर—बड़ा हरामी नाटककार था। ये किसी को प्रभावित नहीं करता, बल्कि अपने पास से दूर भगाता है। कहता है—यहां मैं हूं, मेरा देश है—तुम मेरी नकल नहीं कर सकते—अपने पास जाओ—अपनों को जानो और लिखो। लगभग यही हाल ब्रेख्त का है।" "कैसे ?" के उत्तर में लाल बोले, 'वह पश्चिमी नहीं है, बिल्कुल भारतीय है, इसलिए। इसके नाटकों को पढ़कर लगता है—नाटक कितना बड़ा 'कार्य' है। यह बड़ा तेजस्वी लेखक है जो अपने पात्रों तक को लौह-पुरुष बना देता है मदर करेज देखो; गैलीलियो देखो''' आयोनेस्को महीन कातता है। टेनिसी विलियम्स वगैरह चट्टे चालाक नाटककार हैं—बने हुए'''।" वह चुप हुए तो मैंने दोहराया, "और भारतीय ?" वह सोचते हुए बोले, "भारतीय ? भारतीय में टैगोर और तेंदुलकर। बादल सरकार का केवल पगला घोड़ा।" वह फिर चुप हो गए थे। मैं विषय बदलकर फिर

सीधे डॉ० लाल के लेखन पर आया, 'आपने लगभग सभी नाटकों में मिथक, इतिहास, लोक-कथा या अतीत के किसी प्रसंग-संदर्भ का आश्रय अवश्य लिया है—ऐसा क्यों ? क्या इससे वर्तमान के चित्रण मे कोई कसर या कमी नही रह जाती ?" डॉ० लाल सहज होकर कहने लगे, "ये सवाल दरअसल पूरा सही नहीं है। मैंने दोनों प्रकार के नाटक लिखे हैं। आरम्भ से ही मेरे लेखन की दो धाराएं रही हैं। मै वास्तव में दो धरातलों का व्यक्ति भी हूं और लेखक भी। एक धरातल है : गांव के सस्कारों का—मन का, और दूसरा धरातल है शहर से अर्जित बौद्धिकता का। इसीलिए मेरे नाटकों में 'फॉर्म' भी दो तरह के है। एक है—**मादा कैक्टस, मि० अभिमन्यु, अब्दुल्ला दीवाना, करफ्यू**—इनकी चरम सीमा है **व्यक्तिगत**। दूसरी धारा है—**अन्धा कुआं, रक्त कमल, कलकी, सूर्यमुख** इत्यादि मे।

मेरे ये दोनों धरातल जहा मिलकर एक हो गए हैं, जहा मेरा बौद्धिक अकुश छूट गया है वही मेरी श्रेष्ठ रचना हुई है जैसे—**सूर्यमुख, व्यक्तिगत, एक सत्य हरिश्चन्द्र, और सस्कार ध्वज** मे। **व्यक्तिगत** मे आकर मैं 'रिलैक्स्ड' हो गया हूं—बुद्धि मे छूट गया हू। यहां मैंने 'मैं' के साथ खिलवाड किया है और प्याज के छिलके की तरह उसे परत-दर-परत नंगा किया है। देखा है और दिखाया है। ये परतें उतारकर दिखाना आवश्यक है। पिछले प्रदर्शनो में इसे 'टैम्पो' या 'फैशन' के स्तर पर देखा गया है। निर्देशक वास्तव मे इसके सत्य को स्वय ही नही समझ पाए। इसलिए अब मै इसे स्वय कर रहा हू। वास्तविक नाटक तो खामोशी में है—इसे समझना होगा। मेरे ये नाटक न आधुनिक है और न प्राचीन—ये **लीला नाटक** हैं। मैने एक लम्बी यात्रा के बाद ये रहस्य पाया है कि यहा का दर्शक मूलतः एक 'रिलैक्स्ड' प्राणी है। ये रहस्य मुझे सगीत की महफिलों से मिला है—अली अकबर ख़ां, रविशंकर को खूब सुना है। इसी से इधर के मेरे नाटको मे संगीत एक विशेष तत्व के रूप मे आया है। यहां का दर्शक मूगफली खाते हुए, आपस में बतियाते हुए देखना और सुनना चाहता है। वह साथ-साथ 'रिलीफ' चाहता है। मेरे 'लीला नाटकों' में यही है। **यक्ष प्रश्न, संस्कार ध्वज** और **सबरंग, मोहभंग** इत्यादि इसी प्रकार के नाटक हैं।' मैने जिज्ञासा की, "परन्तु दिल्ली मे गत वर्षो मे वही नाटक अधिक पसन्द किए गए जो अन्तर्द्वन्द्व, तनाव और घुटन से भरे थे, ऐसा क्यों ?'

डॉ० लाल एकदम से उत्तेजित हो गए परन्तु तत्काल स्वय को नियंत्रित करते हुए बोले, "दिल्ली का दर्शक एकदम झूठा और बनावटी और दोगला है। उसकी अपनी रुचि या सस्कार है ही नही। 'वास्तविक 'आडियेंस' तो कलकत्ता की है। एकदम असली और संस्कार-सम्पन्न। वहा देखो सारे बौद्धिक और तथाकथित आधुनिक थ्येटर पर ताला पड़ गया या नही ? अब कहां गए बादल

सरकार और दूसरे-तीसरे नाटककार ? परम्परागत जात्रा नाटक में दर्शक टूटा पड़ रहा है—टिकट नहीं मिलते। देखते जाओ हिन्दी में भी यही होगा ये आज के बड़े भारी महान नाटककार कहीं नहीं रहेंगे...।" मैंने बड़ी मुश्किल से बीच में टोका, "और ये मिथक ?" वह उसी रौ में बोलते गए, "दर्शक के लिए। हमारे यहां का आदमी जोड़कर देखने का आदी है। किसी का परिचय पाने के लिए उसके बाप-दादा के नाम और गांव का पता पूछता है। उसे उसकी जड़ों से जोड़कर पहचानता है। वह अतीत के माध्यम से वर्तमान को समझता है। इसलिए जो जितना पीछे जाएगा उतना ही वर्तमान को जानेगा। हमारा आज का दर्शक वर्तमान के सकट से भागकर अतीत में जाना चाहता है। ये आधुनिकता की तो हल्की-सी पर्त-भर है, फूंक मारो उड़ जाएगी और नीचे गहरे तक लोक-संस्कार और रुचियां भरी पड़ी हैं। वर्तमान की फिसलन में फिसल न जाए लेखक इसलिए भी अतीत का सहारा लेता है। यूं इतिहास या मिथक हमारे लिए कोई बीती हुई चीज नहीं है। वह तो हमारे वर्तमान में ही सतत विद्यमान है। मुझे तो लगता है ये युगों (सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग) की बात भी महज कल्पना मात्र ही है। हमेशा बस कलियुग ही होता है। देखो...।" और डॉ० लाल खड़े हो गए दोनों पैर एक साथ जोड़कर। "ये है अतीत—एकदम ठहरा हुआ—जड़।" फिर उन्होंने एक पांव उठाया और कहा—"ये है भविष्य—उठा हुआ पांव" पांव को आगे धरती पर टिकाते हुए बोले, "और ये बना वर्तमान। रचनाकार के लिए अतीत के बाद भविष्य आता है और तब वर्तमान। तीनों अलग कहां है ? अतीत से जुड़कर हमारा वर्तमान अधिक अर्थवान हो उठता है—क्योंकि 'वर्तमान' एकायामी नहीं है।" इससे पहले कि मैं पूछूं वह स्वयं ही स्पष्टीकरण के स्वर में बोल उठे, "यह अलग सवाल है कि हम लोग अपनी रचना में उसे कितना पा सके हैं ?"

"हिन्दी ही नहीं शायद समस्त भारतीय नाटककारों में आप अकेले लेखक हैं जिसने अपने हर नये नाटक के लिए एक नया फार्म तलाश किया है। यह अनवरत तलाश महज प्रयोग या नयेपन की ललक मात्र है अथवा इसके पीछे कोई गहरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कारण छिपा है ?" मेरे इस खासे लम्बे सवाल का अपेक्षाकृत संक्षिप्त उत्तर देते हुए वह बोले, "भई, मैं तो सहज लेखक हूं। नये नाटक में कथ्य नया होता है तो फार्म पुराना कैसे चलेगा। फार्म को पहले से सोच-समझकर अभी तक मैंने कोई नाटक नहीं लिखा है। हर रचना हमेशा अभूतपूर्व होती है। मेरा कथ्य ही मुझे डिक्टेट करता है कि उसे कैसा शिल्प चाहिए। अब यूं समझो कि मेरा एक नया नाटक है गंगा माटी। उसे दो-तीन बार लिखा परन्तु बात बन ही नहीं रही थी। तभी अचानक समझ में आया कि नाटक को एक गलत फार्म में जबरदस्ती फिट करने की कोशिश करता रहा हूं। बस उपयुक्त फार्म मिला नहीं कि नाटक

बना नहीं। अब इसका 'फार्म' ऐसा है कि हिन्दी ही क्या सारे संसार मे इससे पहले वह कही नही आया होगा। इसमें मैंने···।" और देर तक डॉ० लाल अपने नाटक के मुख्य पात्र (जो उनके अनुसार वह स्वय ही है) और नाटक की शिल्पगत बारीकियों और नवीनताओं के विषय मे विस्तार से बताते रहे। इसी बीच चाय आई और गपशप करते हुए पी ली गई। सर्दी बढती जा रही थी।

डॉ० लाल की आखों में अगले प्रश्न की जिज्ञासा देख कर मैंने तत्काल पूछा—"डॉक्टर साहब, आप नाटककार भी है और कथाकार भी। आपके ख्याल से नाट्य-भाषा और कथा-साहित्य की भाषा में मूल अन्तर क्या है?" अपनी पुरानी आदत के अनुसार उन्होंने रहस्यात्मक ढंग से कहा, "नाटक की कोई भाषा नहीं होती—नाटक नाटक होता है बस।" मैंने इस सूत्र की व्याख्या चाही तो बोले, "कथाकार सोचता है, याद करता है तब उसे 'भाषा' के माध्यम से लिखता है। नाटककार न सोचता है न याद करता है। वह 'कार्य' करता है। इसलिए नाटक की भाषा—नही—बल्कि कहना चाहिए—'नाटक-भाषा' लिविंग, डाइनैमिक और इनफौर्मल होती है। जब कोई लेखक कथाकार या कवि का संस्कार लेकर नाटक लिखता है तो वह एक्टर के लिए अड़चन पैदा करता है। नाटक की भाषा पूरी तरह ठोस होती है, इसके बावजूद उसमें 'खोल' होता है। खोल न हो तो अभिनेता उसमे घुसेगा कैसे? अभिनेता में भी खोल होता है, नही तो दर्शक उसमें कैसे घुसेगा? नाटक-भाषा उपस्थिति देती है। इसमे अभिनेता, निर्देशक, दर्शक के लिए पूरा स्थान रहता है।" मैंने टोका, "इस नई दृष्टि के बावजूद हमारी 'नाट्य-भाषा' का समुचित विकास क्यों नही हो पा रहा?" उन्होंने बलपूर्वक तत्काल कहा, "केवल नाट्य-भाषा ही क्या हमारी भाषा का ही विकास नही हो पा रहा—हो सकता भी नहीं। क्योकि यहा का आदमी डरा हुआ है। अंग्रेजी उस पर आतंक की तरह छाई है। होश सभालते ही उसे व्याकरण के नियम और वर्तनी रटवाई जाती हैं। वह शब्द लिखने या बोलने से पहले दस बार सोचता है—गलत होने से भयभीत रहता है। जब तक भाषा मा के प्यार की तरह सहज, सरल, अनौपचारिक और निर्भय नही होती, तब तक उसका विकास सम्भव नही है। इसके विकास के लिए इसका गलत लिखा जाना जरूरी है। व्याकरण से मुक्ति ही भाषा की मौलिकता और प्रगति की पहली शर्त है।"

मेरा अगला प्रश्न था, "क्या आप अपने नाटक को तीव्र नाट्यानुभूति प्रदान करने वाले कला-रूप से हटकर किसी अन्य 'उद्देश्य' या 'सन्देश' का वाहक बनाना पसंद करते हैं?" उन्होंने तत्काल नकारात्मक उत्तर दिया, "नही, बिल्कुल नही। केवल रिलैक्स्ड-जीवन्त की अभिव्यक्ति और तीव्र नाट्यानुभूति ही मेरा लक्ष्य है। यही मेरी उपलब्धि है—एक सत्य हरिश्चन्द्र देखिए।" मैंने फिर पूछा, "आजकल साहित्य मे राजनीतिक विचारधाराओं के प्रति पूर्ण

प्रतिबद्धता का बड़ा बोलबाला है। क्या ब्रेख्त की तरह किसी सिद्धान्त या···।" उन्होंने टोकते हुए कहा, "नहीं, जीवन के अतिरिक्त में कहीं भी प्रतिबद्धता महसूस नहीं करता। किसी राजनैतिक विचारधारा के प्रति तो कतई नहीं।"

सांझ घिरने लगी थी, इसलिए मैंने जल्दी-जल्दी अगले सवाल किए, "आपके नाटकों के नये संस्करण उन्हीं पात्रों-प्रसंगों के बावजूद एक प्रकार से नये से नाटक ही होते हैं। इतने जल्दी और इतने ज्यादा परिवर्तन क्यों करते हैं आप ?" उन्होंने अध्यापक की तरह समझाते हुए उत्तर दिया, "इसके तीन प्रमुख कारण हैं—एक तो यह कि मेरे नाटक भिन्न-भिन्न जगहों पर सतत खेले जाते हैं। हर शहर और हर अचल का अपना स्तर होता है। सीतापुर से कलकत्ता तक पहुंचते-पहुंचते स्थानीय स्तरों, रुचियों और अपेक्षाओं के अनुसार नाटक में स्वभावतः परिवर्तन होते रहते हैं। दूसरे, मैं मानता हूं कि लिखे जाने के बाद नाटक केवल मेरा नहीं रह जाता, वह समाज का और रंगकर्मियों का हो जाता है। उन्हें मैं कभी रोकता नहीं—जैसा चाहे प्रस्तुत करें, मैं प्रतिबंध लगाने वाला कौन हूं ?

नाटक एक सामाजिक-प्रतीति है···कविता-कहानी की तरह यह व्यक्ति-परक नहीं होती। और परिवर्तन का तीसरा कारण यह है कि मैं अपने नाटक को नाटककार या आलोचक की तरह नहीं एक दर्शक की तरह देखता हूं। उसकी आशा-आकांक्षा और अपेक्षा के अनुसार नाटक को परिवर्तित करता रहता हूं। मैं दर्शक का सहायक होना चाहता हूं, उसे समझना चाहता हूं। यही कारण है कि अब करफ्यू के अन्तिम पांच पृष्ठों को एक-डेढ़ पृष्ठ में कर दिया है और 'मैं' की व्याख्या के लिए व्यक्तिगत भाग दो लिखा है। यह परि-वर्तन नाटक की सम्पूर्णता की प्रक्रिया मात्र है।"

मैंने अगला प्रश्न किया, "आप नाटककार, निर्देशक और अभिनेता एक साथ हैं। आपकी दृष्टि से नाटककार और निर्देशक में से किसका कितना और कैसा महत्त्व है ? इनके अधिकार और सीमाओं पर कुछ प्रकाश डालिए।" उन्होंने उत्तर देते हुए कहा, "मैं केवल नाटककार हूं, यही मेरा स्वधर्म है। निर्देशक या अभिनेता जो मेरे भीतर या आस-पास है—उससे मैं सवाद करता हूं—उसकी जरूरतों, अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, सपनों, मर्यादाओं को समझना चाहता हूं—क्योंकि उसके बिना नाटक लिखा ही नहीं जा सकता। वास्तव में, प्ले इज द थिंग शेक्सपियर का ये कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। नाटक एक 'वस्तु' है। वह 'वस्तु' कैसे बनेगी, सजेगी, दिखेगी, पेश होगी, बिकेगी···सब बातों पर ध्यान देना होता है। नाटककार होने का मतलब है सम्पूर्ण-पुरुष होना। सगीतकार के लिए यह आवश्यक नहीं है, वह व्यक्तिवादी कला है। जहां तक अधिकारों का प्रश्न है—जैसा कि मैंने पहले भी कहा है—छप जाने के बाद नाटक पर मेरा कोई अधिकार नहीं रह जाता। जो जैसा चाहे उसके

साथ करे, वह सबकी 'चीज' बन जाती है।" मैने बीच मे रोक कर शंका प्रकट की, "परन्तु इससे तो नाटक की हत्या भी हो सकती है, गलत हाथों में पड़कर।" उन्होंने हँसते हुए प्रतिवाद किया, "नही ऐसा नही होता। यदि नाटक प्राणवंत है तो उसकी हत्या नही होती, वैसा करने वाले की ही हत्या हो जाती है। मुझे अपनी रचना पर बड़ी आस्था और आत्म-विश्वास है। मुझे कोई भय नही है। इसलिए मै नाटक को निर्देशक के हाथो में देकर उससे पूरी तरह अलग हो जाता हूं। वह उसे किसी भी तरह करे यह उसका अपना उत्तरदायित्व और अधिकार है।"

"अब एक प्रश्न थ्येटर के सम्बन्ध मे" मैंने कहा और पूछा, "हमारे यहां रंगमच की वर्तमान दशा और दिशा से क्या आप सतुष्ट हैं? हिन्दी का व्यावसायिक रंगमंच क्यों नहीं बन पाता?" "इसलिए कि हमारा कोई चरित्र ही नही है। प्रोफेशनल थ्येटर तब तक नही बन सकता जब तक कि एक आदमी जीवन भर पूरी आस्था के साथ एक दल के साथ प्रतिबद्ध नही हो जाता। हमारे यहा खूब बढ़िया ग्रुप बनेंगे, चार-छः बढ़िया शो भी करेंगे—मगर उसके बाद बिखर जायेंगे, जीवित नही रहेंगे। मुझे ये 'एम्च्योर थ्येटर' वाली बात कभी समझ मे नही आती। कभी-कभी 'एम्च्योर डॉक्टर' या 'एम्च्योर इंजीनियर' की बात सुनी है? नही होते न, फिर 'एम्च्योर नाटककार' या 'एम्च्योर थ्येटर' कैसे हो सकता है? इसीलिए मैं अपने आप को प्रोफैशनल-नाटककार कहता हू—प्रोफैशनल एण्ड मोस्ट रिस्पौंसीबल ड्रैमेटिस्ट।"

"बस दो-तीन प्रश्न और बचे है अब," मैंने कहा, "इधर नये फिल्म-आन्दोलन और दूरदर्शन के प्रसार ने रंगमच को काफी हानि पहुंचाई है। अभिनेता, निर्देशक और अन्य रगकर्मी बेतहाशा फिल्मों की ओर भागे है—भाग रहे हैं—और दर्शक भी कम हुए है इससे। 'रगमंच' को इस घातक प्रतियोगिता मे बचने और विकसित होने के लिए क्या करना चाहिए?" इससे पहले कि डॉ० लाल उत्तर दें उनकी हीरोइन (यानी व्यक्तिगत की 'वह') आ गई थी और वह बातचीत को बीच ही मे छोड़कर पुन' पूर्वाभ्यास के लिए उठ खड़े हुए थे, ये कहते हुए कि, "ये सवाल बड़ा पेचीदा और लम्बा है, इस पर फिर कभी विस्तार से बात करेंगे।" मुझे लगा जैसे किसी ने 'क्लाइमैक्स' से ठीक पहले अचानक पटाक्षेप कर दिया हो और ठगा-सा दर्शक ताली बजाने के बजाए पड़ोसियो को आश्चर्य से देख रहा हो। विवेक और मैं चुपचाप उठकर धीरे-धीरे वहा से चल दिए थे।

ख

रचनाकार की अनिवार्य नियति : अकेलापन : सुरेन्द्र वर्मा

द्रौपदी, सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक तथा आठवां सर्ग जैसे बहुचर्चित नाटकों के ख्यातिप्राप्त, युवा नाटककार निर्देशक अभिनेता सुरेन्द्र वर्मा से मिलना और बातचीत करना मेरे लिए सदैव एक सुखद अनुभव रहा है। नितान्त अनौपचारिक बातचीत के कुछ अंश यहा प्रस्तुत हैं :

सुरेन्द्र भाई, क्या आप कभी मेडिकल-लाइन में भी रहे हैं ?

कभी नहीं। मैंने या तो अध्यापन किया है या अब इस अमरीकन फर्म मे नौकरी। पर ये सवाल······

इसलिए कि 'द्रौपदी' पढ़-देखकर कइयों को ये भ्रम हो जाता है।

हा, उसका अनुभव मुझे अपने भाइयों—विशेषकर बड़े भाई से मिला, जो लगभग दस वर्षों तक इस लाइन में रहे हैं ···· इस व्यवसाय के दो-एक मित्रो से भी काफी कुछ जानने को मिला······मगर अब कुछ अनायास और परोक्ष ढग से।

आपने अपना पहला नाटक कब और कौन-सा लिखा ?

१९६७-६८ में कैदे हयात। इससे पहले कहानियां लिखता था।

इसी नाम से अश्कजी का भी तो एक नाटक है न ?

हा, मगर मैंने यह शीर्षक गालिब के एक शेर से लिया है और मेरा यह नाटक चूकि गालिब से ही सम्बन्धित है, इसलिए मुझे यही नाम उपयुक्त जान पड़ा।··· परन्तु न तो यह अब तक कहीं खेला ही गया है और न ही मैंने इसे छपवाया है।

क्या नाटक लिखते समय आप अपने मित्रों अथवा वरिष्ठ रचनाकर्मियों से विचार विमर्श करना पसंद करते हैं ?

नहीं। कभी नहीं। पर इसमें पसन्द-नापसन्द का प्रश्न नहीं है। रचना की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि इसमें कोई दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। लेखन-

प्रक्रिया के दौरान किसी स्तर पर मैं एकदम अकेला होता हूं। शायद हर रचनाकार होता है। यह एक प्रकार की जरूरत नहीं बल्कि विवशता है।

मगर ये अकेलापन क्या कभी कष्टकर प्रतीत नहीं होता ?

कभी क्या—हमेशा और कष्ट कर ही नहीं यातनामय भी। परन्तु ये अकेलापन हर रचनाकार की अनिवार्य नियति है। इसे हर हाल में झेलना ही होता है, क्योंकि अभिव्यक्ति इसी के भीतर से होती है।

आपके सभी नाटक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के नाटक हैं। क्या आप हमेशा इसी दायरे में घूमते रहना चाहेंगे?

मैं मानता हूं कि ये सभी नाटक मेरे 'स्व' से उद्भूत हैं। किन्तु अब मैं खुद इससे बोर हो गया हूं। नाटक को रचनाकार के व्यक्तिगत 'स्व' से बाहर निकलना चाहिए। मैं अपने नये नाटक से इस दायरे को तोड़ रहा हूं और मैं आशा करता हूं कि अब मेरा कोई भी नाटक उस प्रकार का नहीं होगा। राकेश जी ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धो की दृष्टि से बहुत कुछ लिख दिया था और बाद के रचनाकारों ने भी काफी लिखा है······अब बहुत हो गया ···· बस !

आपके नाटकों पर राकेश जी के प्रभाव की चर्चा अक्सर होती है। क्या आप राकेश जी के निकट कभी रहे हैं ?

प्रभाव की बात मैं नहीं जानता, हो भी सकता है · शायद है भी। राकेश जी से मेरा पहला परिचय (?) उन दिनों हुआ था जब वह सारिका छोड़ने वाले थे। मैंने उन्हें अपनी एक कहानी भेजी थी—कॉमिक। जो बम्बई के 'लोकाल' पर थी, उसी सम्बन्ध में उनका पत्र आया था। मित्र, काफी दिनों बाद दिल्ली के टी हाउस में पहली बार उनसे भेंट हुई। बड़े आत्मीय और प्यारे ढंग से मिले। इसके बाद तो उनसे नियमित रूप से मुलाकात होती रही। मैंने अपना हर नाटक उन्हें सुनाया और बहुत-बहुत अपनेपन से उन्होंने सुना। सचमुच बहुत बड़े इन्सान थे राकेश जी।

मगर राकेशजी के बारे में अक्सर अजीब-अजीब तरह की बातें सुनने को मिलती रहती हैं जैसे कि वह···

मुझसे पूछो तो उस पीढ़ी ने राकेश से बड़ा इन्सान पैदा ही नहीं किया···हां, साहित्यकार उनसे बड़े हो सकते हैं······। उनकी मित्रता और रचना के बीच कोई चीज आड़े नहीं आती थी।

एक बार रचना छप जाने के बाद निर्देशक या अभिनेता इत्यादि की इच्छा पर क्या आप उसमें परिवर्तन करते हैं ?

प्रकाशन से पूर्व, अगर सचमुच कोई दिक्कत हो और निर्देशक मुझे कन्विंस कर दे तो, छोटे-मोटे परिवर्तन किए भी जा सकते हैं; परन्तु एक बार नाटक छप चुकने के बाद परिवर्तन करना मेरे लिए लगभग असम्भव ही है।

परंतु कई नाटककार हैं जो हर संस्करण में नाटक बदलते रहते हैं···

औरों की बात मैं नहीं जानता परन्तु एक बार किसी नाटक की रचना-प्रक्रिया में से गुजर जाने के बाद दोबारा उसी प्रक्रिया को जीना मेरे लिए मुमकिन नहीं है।

प्रायः आपको अपने अभिनेता—निर्देशक से काफी शिकायतें रहती हैं। क्या कभी ऐसा नहीं हुआ कि मंच पर आपकी अपनी कल्पना से भी अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ 'कुछ' हो गया हो ?

(सोचते हुए, फिर एकाएक मुस्कराकर) हाँऽऽऽ! हुआ तो है ऐसा भी कभी-कभी···मगर बहुत कम।

अब तक आपके नाटक एक विशिष्ट आभिजात्य वर्ग के नाटक ही रहे हैं। क्या आप कोई अधिक व्यापक अथवा जन-सामान्य की समस्याओं को लेकर चलने वाला नाटक नहीं लिखना चाहेंगे ?

मैं उन्हीं चीजों के बारे में लिख सकता हूँ, जो मुझे उद्वेलित करती हैं। वह किसके लिए हैं—ये जानना मेरे लिए मुश्किल है···*शायद ये उतना महत्वपूर्ण भी नहीं है।* यूँ इस तथाकथित जन-सामान्य के नाटक का आप कोई उदाहरण दे सकते हैं ?

(अप्रत्याशित प्रश्न से एकदम अचकचाकर) जैसे···जैसे···हिन्दी में हबीब तनवीर या बंगला में उत्पल दत्त के नाटक।

(गम्भीर होकर) ओह! अच्छा-अच्छा !! पर ऐसे मामले में आपको चुनना होगा कि आप अपनी अभिव्यक्ति से जुड़े हैं या पार्टी से ? इधर इन्हीं 'विशिष्ट वर्ग के सुसंस्कृत' (आपके अनुसार) नाटकों को देखने के लिए काफी 'जन-सामान्य' उमड़ा है। मैं आशावादी हूँ—अभी इस प्रकार के नाटक होने दीजिए—इससे जनता की रुचि का भी परिष्कार और संस्कार होगा।

क्या 'लोक-शैली' आपको आकर्षक नहीं लगती ? क्या आप···?

लोक-शैली मुझे काफी रोचक और उत्तेजक लगती है—कभी उस प्रकार का नाटक लिखूंगा जरूर। मगर कब ? अभी से ये बता पाना जरा मुश्किल है !

नाटक और फिल्म ?

निःसन्देह फिल्म नाटक से अधिक बड़ा और शक्तिशाली माध्यम है।

रेडियो नाटक और मंचीय नाटक में···

बहुत फर्क है। बुनियादी फर्क।

'आठवां सर्ग' तो मूलतः 'हत्या' नामक रेडियो नाटक ही है। क्या उसमें तीसरे अंक के दो दृश्य और जोड़ देने मात्र से ही वह मंचीय नाटक बन गया ?

नहीं, ऐसा नहीं है। ये सच है कि हत्या मंचन से पहले रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था। परन्तु इसके बावजूद न तो वह कभी रेडियो नाटक था और न है। मैंने रेडियो के लिए कभी कोई नाटक नहीं लिखा यह अलग बात है कि

उनमें से कुछेक रेडियो से प्रसारित अवश्य हुए…और यूं तो फिर तुगलक, अन्धा युग, आधे-अधूरे, पगला घोड़ा जैसे अनेक मचीय नाटक रेडियो से हुए ही हैं। और जहां तक 'आठवां सर्ग' का सम्बन्ध है, मैंने आपके प्रश्न का उत्तर उसकी भूमिका मे दे दिया है। हां, यह और बता दूं कि उसका तीसरा अंक लिखते समय पहले दोनों अंकों को भी मैंने दुबारा लिखा है। रेडियो नाटक से मचीय नाटक बनाने के लिए नही बल्कि उसकी समग्रता और अन्विति की दृष्टि से।

रेडियो के प्रति इस उपेक्षा-भाव का कारण ?

नहीं, यह उपेक्षा-भाव नही है। मेरे विचार से रेडियो मनोरंजन और सूचना-प्रसार एवं प्रचार का जबरदस्त माध्यम है। परन्तु कला और साहित्य के गम्भीर रूपो के लिए वह उपयुक्त नहीं है।

क्या अपने नाटकों की पाण्डुलिपियां आपके पास हैं ? प्रारंभिक आलेख ?

हत्या तो खैर 'कथा' के किसी अंक में आपको मिल ही सकता है। वैसे मैं पाण्डुलिपियां कभी रखता नही हूँ · नाटक छपने के बाद ही फाड़ देता हूँ।

मगर क्यों ? क्या यह एक प्रकार की क्रूरता नहीं है ? भविष्य के अनुसंधाता के लिए वह बहुत उपयोगी हो सकती थीं !

शायद आप ठीक कहते हैं। परन्तु अब तक मैंने अपनी रचनाओं को कभी उस गम्भीरता से नही लिया…मेरा मतलब है कि मैं स्वयं तो उसके एक-एक शब्द के प्रति अत्यन्त गम्भीर और जिम्मेदार रहा हूँ…मगर कभी यह नहीं सोचा कि दूसरे लोग भी इन्हे उसी गम्भीरता से लेंगे…फिर एक-एक नाटक के कई-कई प्रारूपों को सँभालकर रखना यूँ भी कठिन ही है। इसके अतिरिक्त, वह बहुत निजी और अंतरंग चीज होती है, उस सब का पाठक के सामने आना कतई जरूरी नही है।

आपका नया नाटक ?

जल्दी ही आएगा—लगभग तैयार है। उत्तर-मुगल काल पर। नाम है—'हसन अली-हुसैन अली'।

ग

हिन्दी रंगमंच ही भारतीय और राष्ट्रीय रंगमंच है : जे० पी० दास

अपना निजी मुहावरा और रूप तलाशने के लिए बेचैन उड़िया के युवा कवि-नाटककार जगन्नाथ प्रसाद दास का नाम हिन्दी रंगमंच-जगत में तब अचानक चर्चित हो उठा जब मई, १९७६ में 'दिशान्तर' की ओर से रामगोपाल बजाज के निर्देशन में इनका नाटक 'सूर्यास्तक' दिल्ली के फाइन आर्ट्स थियेटर में प्रस्तुत हुआ। तमाम सुख-सुविधाओं और मान-सम्मान के बावजूद अपनी निजता और अर्थवत्ता के लिए निरन्तर छटपटाते-जूझते-टूटते व्यक्ति की त्रासदी को ओम पुरी जैसे जाने-माने और सशक्त अभिनेता ने साकार किया। दिल्ली नाट्य-प्रेमियों के हृदयों से अभी इस नाटक की याद धुंधला भी न हो पाई थी कि जे० पी० का दूसरा उत्तेजक और अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और समकालीन नाटक सबसे नीचे का आदमी 'यवनिका' की ओर से मनोज भटनागर के निर्देशन में प्रस्तुत हो गया। यह नाटक अपने कथ्य की तीव्रता, शिल्प की रोचकता और अनुभव की सघनता के साथ-साथ रवि वासवानी, बनवारी तनेजा और पंकज कपूर जैसे श्रेष्ठ कलाकारों के सशक्त अभिनय के कारण भी प्रभावशाली और प्रशासनीय सिद्ध हुआ। पिछले दिनों जब इन बहुचर्चित नाटकों के रचनाकार और उसके रचना-संसार के विषय में कुछ अधिक जानकारी पाने के इरादे से मैं श्री जगन्नाथ प्रसाद दास से मिला तो इस सांवले, युवा, मितभाषी और सुसंस्कृत किन्तु स्पष्टवक्ता व्यक्ति से बातचीत करना मेरे लिए एक रोचक और महत्वपूर्ण अनुभव बन गया। उसी बातचीत के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं—

नाटक और रंगमंच के बारे में आपकी रुचि कैसे पैदा हुई और आपके नाट्य लेखन की शुरुआत कब हुई ?

१९६९-७० में कटक आल इंडिया रेडियो में मेरे एक दोस्त युवा-कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे थे। उन्होंने मुझ से युवा-समस्याओं पर कुछ छोटे

लिखने को कहा। इस दिशा में कुछ करने की इच्छा तो बहुत पहले से मन में थी ही, अब जब मौका मिला तो मैंने उसका लाभ उठाया और दहेज प्रथा, छात्र-असंतोष, युवा-आक्रोश, 'जैनरेशन गैप' जैसी सामाजिक समस्याओं पर कुछेक रेडियो-नाटक लिखे।

जाहिर है कि आपने नाट्य-लेखन रेडियो से शुरू किया और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि रेडियो और रंगमंच के माध्यम में बुनियादी फर्क है। तब क्या रंगमंच के लिए एक सम्पूर्ण और बड़ा नाटक लिखते समय आपको कोई झिझक या परेशानी महसूस नहीं हुई ?

अचानक, किसी विशेष को जैसे दो-एक मंचीय एकांकी मैं पहले लिख चुका था, जो कालेज और क्लब वगैरह में खेले भी गए थे, इसलिए मुझे कोई खास परेशानी नही हुई।

आप पहले कविताएँ लिखते थे, फिर रंगमंच की ओर आकृष्ट हुए। इस माध्यम परिवर्तन का कोई खास कारण आप बता सकते हैं ?

मैं जब भी उड़ीसा से कलकत्ता और दिल्ली आता तो यहाँ के नाटक जरूर देखता था, नये नाटक पढ़ने का भी काफी शौक था। मुझे लगा कि यह माध्यम दिलचस्प ही नही चुनौतीपूर्ण भी है। कविता का पाठक-वर्ग सीमित होता है जब कि नाटक अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली कलारूप है। नये नाटक मे एक चुनौती यह भी होती है कि कुछेक पात्रो के जरिये पूरी बात या कहानी आपको एक ही सैट पर और थोड़े से वक्त मे पेश करनी है। अपने आप को आजमाने के लिए मैंने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया।

जो भी नाटक आपने देखे या पढ़े, उनमें से किस नाटक ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया ?

मैंने बहुत ज्यादा तो देखा-पढ़ा नही है मगर फिर भी मैं कह सकता हूँ कि तेंदुलकर का **शान्तता: कोर्ट चालू आहे** मुझे बहुत अच्छा लगा था।

आपको ऐसा नहीं लगता कि 'सूर्यास्तक' के शिल्प पर 'शान्तता:...' का काफी प्रभाव आ गया है।

हां, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि वहां भी 'कोर्ट' है और मैंने भी एक नाट्य-रूढि (ड्रैमिटिक डिवाइस) के रूप में उसका इस्तेमाल किया है—मगर ऐसा बहुत सोचकर या जानबूझ कर नही किया गया—हो सकता है अवचेतन में ऐसा कुछ रहा हो।

'शान्तता: कोर्ट चालू आहे' के अलावा क्या आपने 'किसी एक फूल का नाम लो' या 'गिनी पिग' भी देखे-पढ़े हैं ?

'सूर्यास्तक की समीक्षाओं से मुझे पता चला कि वह **किसी एक फूल का नाम लो** से मिलता-जुलता है। और अब **सबसे नीचे का आदमी** के अंत पर **गिनी पिग** के प्रभाव की बात भी मैंने सुनी है। मगर अपने नाटक लिखने से पहले मैंने ये

दोनों नाटक न देखे थे और न ही पढ़े थे। हाँ, किसी एक फूल का नाम लो को अभी कोई चार-छः महीने पहले देखा है और गिनो पिग तो अभी तक देख-पढ़ नहीं पाया हूँ। लेकिन मैं यह मानता हूँ कि मुझे पहले ही इन्हें पढना चाहिए था और सम्भव होता तो इनके प्रभाव से भी बचना चाहिए था—यह मेरी गलती है।

'सूर्यास्तक' और 'सूर्यास्त' के नामकरण संबंधी विवाद के विषय में आपकी अपनी राय क्या है?

उड़िया में मैंने जो इसका नाम रखा था—सूर्यास्त पुर्बरु जिसका अनुवाद वास्तव में सूर्यास्त से पहले होना चाहिए। मैंने इसके हिन्दी अनुवाद का नाम दिया था शाम होने तक। मैंने अपने पूर्व-प्रकाशित कविता-संकलन प्रथम पुरुष में भी यही नाम विज्ञापित किया था। परन्तु 'दिशान्तर' वालों को यह नाम पसंद नहीं आया और बहुत से नामों पर सोच-विचार करने के बाद सूर्यास्त तय हुआ। रामगोपाल बजाज ने सूर्यास्त में 'क' जोड़कर मंचन के लिए इसका नाम सूर्यास्तक कर लिया। और बाद में, चूंकि इस शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है इसलिए प्रकाशक ने इसे सूर्यास्त के नाम से ही छापा। मैंने भी सोचा कि दूसरी भाषाओं में अनुवाद के लिए भी शायद यही नाम सुविधाजनक रहेगा, इसलिए कोई आपत्ति नही की, हालांकि मेरा अब भी यही मत है कि नाटक के हिसाब से यह नाम बहुत सही नहीं है।

इसकी प्रस्तुति में निर्देशक बजाज का प्रयास पात्रों के सम्बन्धों से उत्पन्न उपहास को उभारना रहा है। क्या आप उनकी इस व्याख्या या धारणा से सहमत हैं?

नहीं, मैं इस बात से असहमत हूँ। मेरा उद्देश्य इस नाटक से हास या उपहास उत्पन्न करना नहीं है, बल्कि मैं चाहता था कि नाटक के अन्त में नायक या अनायक दीपंकर के प्रति दया या करुणा (पिटी) का भाव पैदा हो। सहानुभूति नहीं।

समग्र प्रभाव और दीपंकर के चरित्रांकन से, मेरा अपना विचार है, कि नाट्यालेख और इस प्रस्तुति में काफी अन्तर है। आप इस बारे में क्या सोचते हैं?

नाटक लिखना और उसे प्रस्तुत करना दो बिलकुल अलग-अलग कलाएँ हैं। निर्देशक किताब को मंच पर सिर्फ 'इलस्ट्रेट' नहीं करता—नाटक के बारे में वह अपनी व्याख्या और दृष्टिकोण के लिए स्वतंत्र है। ओमपुरी एक सशक्त अभिनेता हैं और बजाज प्रतिष्ठित निर्देशक, परन्तु जहां तक इस प्रस्तुति का सम्बन्ध है—मैं सोचता कि वह मेरी कल्पना के दीपंकर को पूरी तरह साकार नहीं कर पाये है।

'सूर्यास्त' में आपने सभी पात्रों को केवल दीपंकर की नजर से देखा और दिखाया है। एक स्थान पर वह इन पात्रों के 'दूसरे रूप' की बात कहता है। परन्तु मुझे लगता है कि उनका वह दूसरा रूप नाटक में कहीं भी उभरा नहीं

है। यदि आपने इन पात्रों को इनकी अपनी दृष्टि से भी देखा-दिखा होता तो क्या इनके व्यक्तिगत जीवन की छिपी हुई विडम्बनाएँ नाटक को अधिक रोचक और प्रभावशाली नहीं बनातीं ?

कलकत्ता में बंगला में जब इसका प्रस्तुतिकरण हुआ तो निर्देशक ने इसकी 'प्रस्तावना' को निकाल दिया था—जिसमें पात्रों को दीपंकर की नजर से देखने की बात कही गई है। उनका विचार था कि इसके न रहने से भी कोई नुकसान नहीं है, परन्तु मेरा विचार है कि यह केवल एक नाटकीय युक्ति भर नहीं है, इससे नाटक और उसके पात्रों के बारे में आवश्यक जानकारी मिलती है। मैं आपकी इस बात से सहमत हूं कि दीपंकर के अतिरिक्त शेष सभी पात्र द्विआयामी हैं—तीनों आयाम केवल दीपंकर में ही उभरे हैं। परन्तु संरचना और अभिनय-सम्भावना की दृष्टि से यदि आप इस नाटक को देखें तो आपको लगेगा कि यह केवल दीपंकर का ही नाटक है, शेष सभी पूरक पात्र हैं। हालांकि उनके व्यक्तित्व के दूसरे रूप के भी कुछेक संकेत नाटक में है परन्तु मूलतः वे द्विआयामी पात्र ही है, मैं आपकी बात से पूरी तरह सहमत हूं।

आपने जब इस नाटक की 'प्रस्तावना' की चर्चा की तो मुझे 'आधे-अधूरे' के काले सूट वाले आदमी की भूमिका का स्मरण हो आया—जिसके जरूरी और गैर-जरूरीपन को लेकर आज तक कोई अन्तिम फैसला नहीं हो पाया है। 'सूर्यास्त' के बारे में मैं यह कहना चाहूंगा कि इसकी 'प्रस्तावना' भी दर्शक पाठक के मन में बड़ी-बड़ी उम्मीदें जगा देती है जो नाटक के दौरान पूरी नहीं हो पातीं—इसलिए यदि उसे आरम्भ से निकाल दिया जाए तो क्या नाटक अपेक्षाकृत अधिक सुगठित और प्रभावपूर्ण नहीं हो जाएगा ?

मेरे विचार से इसका रहना ही जरूरी है। इससे पाठक-दर्शक को काफी जानकारी मिलती है। यह रोचकता मे भी वृद्धि करती है। जैसे आरम्भ मे वह 'गोली से मार देंगे' की बात करता है, बाद में रिवाल्वर आती है। इसी तरह 'सबसे नीचे का आदमी' के पहले अंक में हिटलर और चार्ली चैपलिन का साधारण सा उल्लेख होता है परन्तु तीसरे अंक में जब बाबू जी इन्ही दोनों रूपों में सामने आते हैं तो दर्शक अनायास ही दोनों बातों को जोड़ता है और मजा लेता है। फिल्म में इसे 'फीडिंग' कहते हैं। इससे नाटकीयता बढती है।

कथ्य के धरातल से आपके दोनों नाटकों में काफी दूरी है। एक व्यक्ति की निजी त्रासदी से आगे बढ़कर एक पूरे वर्ग या समाज के एक बहुत बड़े हिस्से के जीवन-चित्रण की एक लम्बी यात्रा आपने इन दो नाटकों में तय की है। क्या दोनों नाटकों की रूप-रेखा पहले से आपके मन में थी या 'सूर्यास्त' के बाद की समसामयिक सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर ··

ये दोनों 'थीम' बहुत समय से मेरे मन में थीं। 'काल' यानी समय और मृत्यु का विषय मुझे प्रारम्भ से ही सम्मोहित करता रहा है। मेरी कुछ कविताओं

में भी यह विषय आया है। पहले नाटक में प्रौढ़ावस्था के माध्यम से वही सवाल उभरा है। इसके अतिरिक्त, हमारे समाज के सदियों से दलित और पीड़ित निम्न वर्ग के प्रति भी मेरी चिन्ता और सहानुभूति सदैव से रही है। मेरी धारणा है कि हम 'सबसे नीचे का आदमी' के बारे में कभी गम्भीरता या ईमानदारी से नहीं सोचते······क्योंकि हम जानते हैं कि उसका उत्थान हमारे मूल्य पर होगा, इसलिए बड़ी-बड़ी बातें करने के बावजूद उसके उत्थान के लिए कोई ठोस काम करना नहीं चाहते।

फर्क के बावजूद आपके दोनों नाटकों में शिल्प के स्तर पर कहीं गहरी समानता है, क्या ये···

संरचनात्मक दृष्टि से दोनों नाटको का विकास यथार्थ से अमूर्त (एब्स्ट्रेक्ट) की ओर है, इसके अतिरिक्त और कोई समानता शायद दोनों में नहीं है। शिल्प की दृष्टि से *सबसे नीचे का आदमी*, *सूर्यास्त* की अपेक्षा अधिक सुगठित और प्रौढ़ है। अपने पहले नाटक के प्रस्तुतिकरण से प्रत्यक्षः जुड़े रहने के कारण मंच तकनीक का जितना और जैसा अनुभव मैंने पाया था, उसका उपयोग मैंने अपने दूसरे नाटक मे किया है।

इसके अतिरिक्त नाटक में नाटक का शिल्प भी तो, जरा से हेर-फेर के साथ दोनों में मौजूद है। क्या ये भी पहले नाटक के अनुभव से लाभ उठाने के इरादे से ही हुआ है या···

नहीं, लिखते समय ये बात मेरे ध्यान मे नहीं आई कि दोनों में कुछ इस प्रकार की समानता आ रही है। कथ्य की माँग के अनुरूप यह शिल्प अनायास आ गया।

'सबसे नीचे का आदमी' में आपने गांधी जी के अन्त्योदय के आधार पर निम्न वर्ग के उत्थान और जागरण का जो प्रश्न उठाया है, आप क्या समझते हैं, उसका कोई निश्चित समाधान या रूप नाटक में है?

नहीं, वहा कोई निश्चित समाधान नहीं है। यह सवाल अन्त तक अनुत्तरित ही रहने दिया गया है······जैसे वह बन्द लिफाफा जिसमें बम भी हो सकता और गुलदस्ता भी। ठीक लेडी एण्ड दि टाइगर वाली कहानी की तरफ जिसमें पता नहीं कि लेडी आएगी या टाइगर······ये सवाल दर्शक-पाठक और निर्देशक की सोच पर छोड़ दिया गया है।

मेरे विचार से कलात्मकता और अन्विति की दृष्टि से 'सबसे नीचे का आदमी' दूसरे अंक के अन्त में समाप्त हो जाना चाहिए। रामू द्वारा बाबू जी के मुंह पर लिफाफा फोड़ने की घटना निम्न वर्ग के जागरूक होने और उसके विरोध का जबरदस्त संकेत देती है, इसके अलावा, नाटक के आगे चलने का कोई संकेत भी वहां नहीं है।

यही सवाल रामू की भूमिका करने वाले अभिनेता पकज कपूर ने भी मुझ से किया था। असली बात यह कि वह लिफाफा फोड़ता कैसे है? मेरे विचार से वह

लिफाफा एक मजाक की तरह फूटता है क्योंकि उससे पहले रामू बन्दर की तरह उछल-कूद कर रहा है, वहा रामू एक केरीकेचर है, उसके इस काम को 'विरोध' मानना सही नहीं है। असली 'प्रोटेस्ट' तो बाहर से गोली चलने की आवाज से शुरू होता है।

रामू के ही चरित्र के विषय में एक सवाल यह भी है कि वह प्रारम्भ में गांधी वाणी पढ़ता है। परन्तु अन्त में उसका 'विरोध' और जुलूस हिंसक है—क्या इसमें आपको कोई असंगति प्रतीत नहीं होती ?

मेरे विचार से गांधी-वाणी की मूल प्रेरणा व्यक्ति को जागरूक करने की है, उसके उत्थान की है; यह बात शायद व्यक्ति-सापेक्ष है कि वह जागृति किस रूप मे अपने को अभिव्यक्त करती है।

अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा उड़िया के नाटक हिन्दी रंगमंच पर सबसे कम—लगभग 'न' के बराबर हुए हैं। ऐसा क्यों ?

उड़िया मे नाटक लिखे तो काफी गए हैं परन्तु एक तो अनुवाद की ही काफी समस्या है, दूसरे वहाँ लोगों की ऐसी धारणा है कि पूर्णत. 'अमूर्त' होना ही सबसे ज्यादा आधुनिक होना है। इसलिए हिन्दी के दर्शक पाठकों के लिए शायद वह बहुत अनुकूल और उत्तेजक सिद्ध नही होंगे······

आपने अपने नाटकों को उड़िया में करने कराने का प्रयास क्यों नहीं किया ?

ऐसा नही है। सूर्यास्त मैंने फरवरी ७२ में लिखा था और तभी उसका बंगला अनुवाद 'थ्येटर गिल्ड' द्वारा श्यामल सेन के निर्देशन में कलकत्ता मे प्रस्तुत हो भी गया था। हिन्दी मे चार वर्ष बाद आया और इसी बीच पटियाला में पंजाबी मे भी हो गया है। उडिया मे अभी हाल ही में गोविन्द गुप्ता ने उसे प्रस्तुत किया है। मैं वहां मौजूद था।

आपने हिन्दी और उड़िया दोनों प्रदर्शन देखे—क्या आप दोनों के दर्शक वर्ग और उसकी प्रतिक्रिया पर कुछ कहना चाहेंगे ?

दोनों जगह दर्शकों ने उसे समान रूप से पसन्द किया। मैं उनसे सन्तुष्ट हूं और प्रतिक्रिया का कोई विशेष अन्तर भी मैंने नही देखा······हा, मेरा अनुमान है कि सबसे नीचे का आदमी कलकत्ता के दर्शक को दिल्ली की अपेक्षा अधिक उद्वेलित करेगा।

'सबसे नीचे का आदमी' की मीना औरों को 'विरोध' और क्रान्ति के लिए उकसाती है परन्तु स्वयं व्यवस्था से चिपके रहना चाहती है—ऐसा क्यों ?

इसलिए वह कहीं न कहीं 'अहिल्या' है और कोई राम ही आकर उसका उद्धार कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह मध्यवर्ग की प्रतीक भी है—जो नारे और भाषण तो बहुत देता है मगर व्यवहार मे करना कुछ नही चाहता। यह वही वर्ग है जो क्रान्ति के समय हमेशा विजेता पक्ष की ओर ही होता है।

आपको ऐसा नहीं लगता कि आपके नाटकों के निर्देशकों ने नाटकों से कुछ

ज्यादती की है और यदि आप स्वयं उन्हें करते तो वह कुछ अलग और अच्छे बन सकते थे ?

अलग होता यह तो सही है मगर अच्छा होता, यह कहना कठिन है ? शुरू-शुरू में मैं काफी साथ रहा, फिर धीरे-धीरे मुझे यह पता चल गया कि नाटक लिखना और प्रस्तुत करना बिल्कुल अलग-अलग काम हैं और इसमें नाटककार और निर्देशक के मिलकर काम करने से यह आवश्यक नहीं है कि हमेशा अच्छा परिणाम ही निकले—फिर मैंने अपने आप को अलग कर लिया ।

लेकिन इससे आपको रंगमंच के तकनीकी पक्ष की अधिक व्यावहारिक और प्रामाणिक जानकारी मिल सकती है।

हाँ, यह तो सही है। मगर यह सम्भव नही है कि नाटककार और निर्देशक मिलकर नाटक को निर्देशित करें—क्योंकि कभी-कभी दोनो की व्याख्याएं भिन्न ही नही विरोधी भी हो सकती हैं।

हिन्दी नाटक और रंगमंच की वर्तमान दशा और उसके भविष्य के बारे में आप क्या सोचते हैं ?

मेरे विचार से हिन्दी रंगमच के क्रिया-कलाप बहुत ही महत्त्वपूर्ण और व्यापक है। रंग संस्थाओं की सख्या, नये-नये प्रयोगों और वैविध्यपूर्ण प्रदर्शनो की दृष्टि से शायद कोई भी प्रादेशिक रंगमंच इसका मुकाबला नही कर सकता। सभी प्रदेशों और भापाओं के नाटक यहाँ होते हैं—इसी के माध्यम मे उन्हें व्यापक मान्यता और प्रतिष्ठा भी मिलती है। सच्चे अर्थों में हिन्दी रंगमंच हमारा भारतीय और राष्ट्रीय रंगमच है और इसके उज्ज्वल भविष्य के विपय में मुझे कोई सन्देह नहीं है।

घ

रंगमंच और फिल्म का फर्क : गिरीश कार्नाड

ययाति, तुगलक और हयवदन जैसे राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त और पुरस्कृत नाटकों के रचनाकार; संस्कार, वंशवृक्ष, काडू, अंकुर, निशान्त, स्वामी, गोधूलि जैसी फिल्मों के अभिनेता-निर्देशक गिरीश कार्नाड मूलत. कन्नड़-भाषी हैं। इन्होंने परम्परा तथा आधुनिकता के श्रेष्ठ तत्वों के रचनात्मक उपयोग से कालजयी रग-नाटकों तथा अविस्मरणीय फिल्म-कृतियों की सृष्टि की है। सुप्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक श्री राजिन्दर नाथ के निमंत्रण पर श्री राम कला केन्द्र में श्री कार्नाड से मिलना और अनौपचारिक बातचीत करना सचमुच एक रोमांचक और सुखद अनुभव था।

आपका प्रथम प्रेम नाटक है या फिल्म ?

मैं मूलतः नाटककार हूँ, यद्यपि धनोपार्जन के उद्देश्य से कुछेक फिल्मों में कुछ विशिष्ट भूमिकाएँ भी की हैं और कर रहा हूँ—फिर भी, मैं मानता हूँ कि अभिनय मेरा वास्तविक क्षेत्र नही है।

क्या एक साथ दो माध्यमों में काम करना सम्भव है ?

अवश्य ! रंगमंच और फिल्म साथ-साथ चल सकते हैं।

इनका मूलभूत अन्तर आप क्या मानते हैं ?

रंगमंच में अभिनेता सर्वोपरि है (यही बात एक दिन पहले **चौएजेक**, **बिच्छू**, **शेर अफगन** और अब **बेगम का तकिया** के प्रतिभावान युवा निर्देशक रंजीत कपूर ने भी कही थी) तो फिल्म में निर्देशक। इसके अतिरिक्त, फिल्म की अपेक्षा रंगमंच अधिक जीवन्त, प्रत्यक्ष और उत्तेजक माध्यम है परन्तु वह यहा जीविका नही देता। फिल्म का व्यापकत्व, ग्लैमर और पैसा कलाकारों को सम्मोहित कर रहा है। रंगमंच तो केवल कुछ लोगों के 'पैशन' के कारण जीवित है और रहेगा।

दोनों माध्यमों में काम करने का कोई और विशिष्ट अनुभव ?

हां। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि नाटक और रंगमंच वास्तव में कलाकार का माध्यम हैं जबकि फिल्म व्यावसायिक का। असफल होने का अधिकार कलाकार का बुनियादी अधिकार है और फिल्म माध्यम कतई इसकी सुविधा नही देता। वहां, एक बार असफल होने का अर्थ है हमेशा के लिए खत्म हो जाना और मेरे विचार से जो असफल होने का खतरा नही उठा सकता वह शायद कलाकार ही नही होता।

अपने तीनों नाटकों में आपने अतीतोन्मुखी कथानक और पात्र क्यों चुने ?

अतीत के माध्यम से वर्तमान की बात करना कभी-कभी अधिक सुविधाजनक रहता है।

तो क्या आप भविष्य में भी ऐसे ही परिवेश के नाटक लिखेंगे ?

नही, ऐसा कोई अटल निश्चय नही है, मेरा। इधर एक समसामयिक परिवेश का नाटक भी लिख रहा हूँ—इंग्लैंड मे प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों के जीवन पर। इसके अतिरिक्त, 'एक और मृच्छकटिकम्' भी लिखने की योजना है।

कब तक ?

अभी तो बहुत व्यस्त हूँ, देखो, कब समय मिलता है।

ङ

राष्ट्रीय रंगमंच की भाषा हिन्दी ही होगी : राजिन्दर नाथ

संगीत-नाटक अकादमी द्वारा १९७७ में श्रेष्ठ नाट्य-निर्देशक के रूप में पुरस्कृत सुप्रसिद्ध रंगकर्मी राजिन्दर नाथ ने अभिनय और निर्देशन के विविध सोपानों से गुजरते हुए १९६७ में दिल्ली के कुछ कुशल, उत्साही और सक्रिय कलाकारों के साथ मिलकर अभियान नामक नाट्य-संस्था की शुरुआत की और उसके अन्तर्गत **हत्या एक आकार की, बाकी इतिहास, पगला घोड़ा, किसी एक फूल का नाम लो, गिनी पिग, घासीराम कोतवाल, अली बाबा, हानूश, उद्ध्वस्त धर्मशाला** और **लिसिस्ट्राटा** जैसे बहुचर्चित नाटकों का निर्देशन किया। इसके अतिरिक्त आपने 'यात्रिक' के लिए **एक चादर मैली सी**, 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के लिए **सूरज का सातवाँ घोड़ा**, मैक्समूलर भवन थ्येटर वर्कशाप (शिमला) में **छतरियाँ** 'अनामिका' (कलकत्ता) के लिए **आधे-अधूरे** एवं **हयवदन** तथा 'दिशान्तर' के लिए **लहरों के राजहंस** भी निर्देशित किए। गोइठे इन्स्टीच्यूट, म्यूनिख की फैलोशिप पर रंगमंच का अध्ययन करने अमरीका गए। सम्प्रति श्रीराम सैन्टर ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर के निदेशक हैं। उनसे हुई एक लम्बी मुलाकात का संक्षिप्त और सघन रूप यहां प्रस्तुत है—

निर्देशन के लिए नाटक का चुनाव करते समय आपका मूल आधार क्या होता है ?

नाटक की अच्छाई। चाहे कथ्य की दृष्टि से चाहे शिल्प की दृष्टि से—नाटक यदि मन को भा जाए तो मैं उसे कर डालता हूँ। कोई पूर्वाग्रह नहीं है।

दर्शकों को आपसे शिकायत है कि आप हिन्दी के मौलिक नाटक प्रायः नहीं करते, क्यों ?

नहीं, ये आरोप सही नहीं है। 'अभियान' का पहला नाटक **हत्या एक आकार की** हिन्दी का मौलिक नाटक ही था। **दर तले की जमीन**, नाटक **पोलमपुर का**,

हानूश के अतिरिक्त और भी कई हिन्दी के नाटक मैंने किए हैं। ये शिकायत बेमानी है। यदि हिन्दी का कोई अच्छा नाटक मेरे सामने आए तो यकीन मानिए मैं इस कारण से तो उसे नहीं ही छोड़ूंगा कि यह हिन्दी का नाटक है।

हिन्दी नाट्य-लेखन की समकालीन स्थिति के बारे में आपकी राय ?

हमारे बीच यह एक मिथ बन गई है कि हिन्दी में बहुत अच्छा नाटक नहीं लिखा जा रहा। दरअसल, बहुत अच्छा नाटक किसी भी भाषा में बहुत जल्दी और बहुत ज्यादा नहीं लिखा जाता। सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि और भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी में शायद बहुत अच्छा नाटक और नाटककार आने में कुछ ज्यादा वर्ष लग जाते हैं। राकेश ने आषाढ़ का एक दिन कब लिखा था ? उस वक्त हमारे रंगमंच की क्या स्थिति थी ? इसलिए यह धारणा बहुत गलत है कि अच्छा नाटक किसी खास वजह से नहीं लिखा जा रहा।

'द्वितीय राष्ट्रीय नाट्य समारोह' में हिन्दी का कोई भी मौलिक नाटक क्यों सम्मिलित नहीं किया गया ?

अगर आप ये इल्जाम दे रहे हैं तो मैं इसे कुबूल करता हूँ। फिर भी, आला अफसर के बावजूद मेरी इच्छा एक मौलिक हिन्दी नाटक शामिल करने की थी —एन० एस० डी० को कहा भी था, किन्तु वह कर नहीं सके और आखिरकार एक जर्मन नाटक का रूपातरण– जुलाहे—को करना पड़ा।

आप विदेशी नाटकों के विरुद्ध क्यों हैं ?

विरुद्ध तो नहीं हूँ, किन्तु अपने देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए मुझे लगता है कि हमें अपने सीमित साधनों को पूरी तरह अभी कुछ और वर्षों तक अपने मौलिक नाटक करने में ही लगा देना चाहिए। भारतीय रंगमंच के विकास के लिए फिलहाल ये आत्म-नियंत्रण निहायत जरूरी है।

क्या यही तर्क 'हिन्दी रंगमंच पर हिन्दी नाटक' के रूप में लागू नहीं किया जा सकता ?

नहीं, इससे हम अपने आप को बहुत सीमित कर लेंगे। बहुत अच्छे तो जाने दीजिए गुजारे लायक नाटक भी शायद आपको बहुत अधिक नहीं मिलेंगे। हिन्दी में लिखने वालों की तादाद बहुत ज्यादा है मगर सचमुच करने लायक नाटक बहुत ही कम हैं। और जो अच्छे नाटक हैं, वह तो होते ही रहते हैं जैसे—मोहन राकेश या सुरेन्द्र वर्मा के नाटक।

विदेशी और समकालीन हिन्दी रंगमंच की तुलना ?

हमारे यहाँ टेलैंट की कमी नहीं है मगर वह एक-एक दो-दो करके अलग-अलग संस्थाओं में बिखरा हुआ है। यदि हम उन सारे अच्छे कलाकारों को एक जगह इकट्ठा करके कुछ प्रस्तुत करें तो उसका जो मेयार (स्तर) होगा उसकी तुलना हम विश्व के किसी भी श्रेष्ठ रंगमंच से आसानी से कर सकते हैं। विदेशों का व्यावसायिक रंगमंच 'प्रोफेशनली कम्पीटेन्ट' तो है, किन्तु

'मीनिंगफुल' नहीं है। जर्मनी का सारा थ्येटर राज्य की सहायता से चलता है। वहाँ तीन प्रकार का रंगमंच है—ऑपेरा, स्पैक्टेकल और थ्येटर। वहाँ का लोकप्रिय रंगमंच तो स्पैक्टेकल ही है। 'मीनिंगफुल थ्येटर' तो कहीं भी बहुत थोड़े दर्शकों के सामने स्टूडियो थ्येटर्स में ही होता है। उसे आप श्रीराम सैंटर के बेसमैंट थ्येटर की तरह का रंगमंच मान सकते हैं।

'राष्ट्रीय-रंगमंच' पर श्रीराम कला केन्द्र द्वारा आयोजित परिचर्चा का प्रयोजन और परिणाम ?

देखिए, धारणा के स्तर पर तो राष्ट्रीय रंगमंच हमेशा किसी न किसी रूप में होता ही है, हमारे यहाँ भी है। परन्तु 'राष्ट्रीय रंगमंच' से हमारा तात्पर्य फिलहाल किसी ऐसी जगह से है जहाँ देश के बेहतरीन नाटक हर वक्त—मतलब लगातार दिखाए जायें। सारी दुनिया मे इस प्रकार के 'राष्ट्रीय रंगमंच' मौजूद हैं जो देश के केन्द्रीय स्थान—प्राय: राजधानी—में होते हैं जैसे लंदन का नेशनल थ्येटर या जर्मनी का नेशनल थ्येटर। हमारी परिचर्चा में हिन्दी और दिल्ली को लेकर सहमति नहीं हो सकी और सर्वसम्मति से हम इस निर्णय पर पहुँचे कि प्रत्येक भाषा और प्रदेश के अपने-अपने 'राष्ट्रीय रंगमंच' हों जिनमें पारस्परिक आदान-प्रदान की भी व्यवस्था हो। कुछ क्षेत्रों में मौजूद प्रायोगिक एवं गम्भीर रंग-कार्य को सैक्स, अपराध और मारधाड़ प्रधान व्यावसायिक रंगमंच की प्रतियोगिता से बचाने के प्रयास किए जायें। यदि संभव हो तो रवीन्द्र रंगशालाओं को राष्ट्रीय रंगमंच बनाया जाए और यदि वे उपलब्ध न हो सकें तो नये प्रेक्षागृह बनाए जायें। प्रत्येक राष्ट्रीय रंगमंच के साथ एक नियमित रंगमंडल सम्बद्ध हो जो क्लासीकल और आधुनिक प्रतिष्ठित नाटककारों के नाटकों के निरन्तर प्रदर्शन करे। अन्य क्षेत्रों और भाषाओं के महत्वपूर्ण रंग-कार्य को स्पोन्सर किया जाए। युवा नाटककारों, निर्देशकों और अभिनेताओं के प्रायोगिक एवं गम्भीर रंग-कार्य को प्रोत्साहित किया जाए तथा रंगमंच को व्यापक···विशेषत: ग्रामीण · दर्शक समुदाय तक पहुँचाया जाये। इन राष्ट्रीय रंगमंचों को सभी प्रकार के सैन्सर और बाह्य नियंत्रण से मुक्त रख कर स्वायत्तता प्रदान की जाए—जैसे कुछेक व्यावहारिक सुझाव दिये गए।

'राष्ट्रीय रंगमंच' के लिए भाषा और स्थान के सम्बन्ध में आपकी व्यक्तिगत राय क्या है ?

हम आज माने या दस साल बाद माने या सौ साल बाद—इस बात से निजात नहीं है कि भाषा तो हिन्दी ही होगी। स्थान के बारे मे मेरी कोई रूढ़ धारणा नहीं है। यदि आप किन्हीं भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक अथवा भाषाई कारणों से दिल्ली मे 'राष्ट्रीय रंगमंच' नहीं बनाना चाहते तो फिर मैं उसे बम्बई में बनाने की राय दूगा। थियेटर की परम्परा तथा चार-पाँच भाषाओं के दर्शक-समुदाय की उपस्थिति की दृष्टि से बम्बई एक आदर्श शहर है। मेरा तो केवल इतना ही आग्रह है कि अभी बने या निकट भविष्य में बने; कोई बनाए और कहीं भी बने 'राष्ट्रीय रंगमंच' बनना जरूर चाहिए।

च

रिचुअल थ्येटर का पुनरुत्थान : एम० के० रैना

भारतीय युवा रंगकर्मियों में एम० के० रैना का नाम और काम विशेष उल्लेखनीय है। कश्मीर में जन्मे-पले इस उत्साही नवयुवक के व्यक्तित्व में एक ओर यदि वैज्ञानिक की तटस्थता है तो दूसरी ओर एक संगीतज्ञ की-सी संवेदनशीलता। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और एशियाई अध्ययन संस्थान नयी दिल्ली से अभिनय में स्नातक रैना ने स्वर्गीय अवतार कृष्ण कौल की राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त फिल्म सत्ताइस डाउन में राखी के साथ नायक की भूमिका सफलतापूर्वक निभाकर पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी। रैना ने एक घुमन्तू निर्देशक के रूप में अब तक देश के विभिन्न भागो मे सत्रह से भी अधिक प्रशिक्षण शिविरों एव कर्मशालाओं का संचालन किया है। लोक रंग तत्त्वों की सहज ऊर्जा तथा सगीत की लयात्मकता आपके निर्देशन की मूल विशेषताएं हैं। इन्होंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली तथा भारतीय रंगमंच विभाग, मराठवाड़ा मे विशेष निर्देशक के रूप में भी कार्य किया है और इस वर्ष राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार समिति के निर्णायक मडल के सक्रिय सदस्य भी रहे है।

अभिनेता-निर्देशक एम० के० रैना की कुछेक उल्लेखनीय प्रस्तुतियां हैं—लोअर डेप्यस (गोर्की), व्यक्तिगत और एक सत्य हरिश्चंद्र (लक्ष्मीनारायण लाल), आधे-अधूरे और छतरियां (मोहन राकेश), खामोश अदालत जारी है (विजय तेंदुलकर), परतें (लंकेश), काकेशियन चाक सर्किल (बर्टोल्ट ब्रेख्त), औरंगजेब (इन्द्रा पार्थसारथी), अंधायुग (धर्मवीर भारती), भगवदज्जुकम् (बोधायन), उरुभंग (भास), इन्ना की आवाज (असगर वजाहत), एवम् इन्द्रजित (बादल सरकार), ययाति (गिरीश कार्नाड) परछाइयां तथा मोचीराम (साहिर लुधियानवी और धूमिल की लम्बी कविताओं का दृश्यांकन), मुक्तधारा (रवीन्द्र-

नाथ टैगोर), जुलूस (बादल सरकार) इत्यादि। कुछ मास पूर्व रैना से हुई एक अनौपचारिक-सी बातचीत के कुछ अंश यहा प्रस्तुत हैं :—

नाटक का शौक आपको विरासत से मिला या···

नहीं साहब, परिवार में कोई थ्येटर नहीं करता, पर मुझे ये शौक बचपन से ही लगा। आठ-नौ वर्ष का रहा होऊंगा···हमारे स्कूल के प्रिन्सिपल थे श्री दीनानाथ नादिर···बस उन्ही के प्रोत्साहन का फल समझिए इसे। वह बच्चों के लिए खुद भी लिखा करते थे। कश्मीरी में उनका एक औपेरा नेकी और बदी हमने तब किया था···उल्लू और दूसरे परिन्दों की कहानी···वाह ·· क्या चीज थी वह·· काव्यांश तो बस कमाल थे···कुछेक तो अब तक याद हैं मुझे···।

आपने लगभग सभी तरह के नाटक किए हैं, मगर आपकी अपनी पसन्द क्या है?

फोक फॉर्म में बड़ा मजा आता है मुझे ·····संगीत से इनर्जी मिलती है। मगर हमेशा वही नहीं करना चाहता। परछाइयाँ, मोचीराम (साहिर और धूमिल की लम्बी कविताएं) और छतरियां (राकेश का पार्श्व-नाटक) का अनुभव बहुत रोमाचक रहा इधर, बिना शब्दों के···केवल मानव-देह से स्थितियों की अभिव्यक्ति और व्याख्या करना अच्छा लग रहा है···कुछ और प्रयोग भी करना चाहता हूँ?

फोक फॉर्म और संगीत की जानकारी पुस्तकीय ही है या आपने इनकी व्यावहारिक शिक्षा भी ग्रहण की है?

फोक फॉर्म मैंने पढ़ कर नही जाना और शायद वह इस तरह जाना जा भी नही सकता· मैंने अनेक लोक-नाट्य मण्डलियों (विशेषतः कश्मीरी) को बहुत करीब से जाना है···उनके साथ-साथ घूमा हू और घूमकर पाया है कि बहुत ताकत है इसमें···और संगीत की विधिवत् शिक्षा मैंने पाँच वर्षों तक पाई है।

वर्तमान हिन्दी रंगमंच के विषय में आप क्या सोचते हैं?

व्यक्तिगत रूप से मैं इस संश्लिष्ट-रगमच और स्पॉट-लाइट से बोर हो गया हू···मैं सन-लाइट में नाटक करना चाहता हूं। आधुनिक संदर्भ में हमें अपने रिचुअल-थ्येटर का पुनरुत्थान करना चाहिए। हमारी सर्जनात्मकता रुक क्यों गई, एक बिन्दु पर आकर, इसके कारणों की तलाश बहुत जरूरी है।

आपकी दृष्टि में इस अवरोध के क्या-क्या कारण हैं?

कारण तो बहुत से हैं मगर मूलभूत कारण है पश्चिम की गुलामी। स्पीच और साउंड के लिए भी हम वही जाते हैं। हमने अपने नाट्य-शास्त्र और परम्परा को भुला दिया है। हमारा दर्शन, हमारे जीवन-मूल्य, हमारी लय ही दूसरी है। हमें अपने वैदिक पंडितों से स्वर और ध्वनि का अभ्यास करना होगा ·· अपने शास्त्रीय और लोक रंग-तत्वों का रचनात्मक उपयोग करना होगा।

कभी डागर बन्धुओं का ध्रुपद सुना है आपने · एक भी शब्द नही ···केवल ध्वनि···केवल स्वर···मगर कमाल है साहब···जापानी रगमच से भी साउण्ड्स का लाभ उठाया जा सकता है।

आपके जीवन का सबसे कठिन और चुनौतीपूर्ण नाटक ?

मेरी प्रक्रिया दरअसल थोड़ी भिन्न है। मैं कोई नाटक पहले पढ़ता हूँ। अगर वह अपील करता है तो उस पर सोचता हूँ, डेवलप करता हूँ·· पकाता हूँ, मन ही मन उसका डिजाइन तैयार करता हूँ · तब उसे करता हूँ। मुक्तधारा को पिछले चार साल से 'पढ़' रहा हूँ।

मगर ऐसा भी तो होता है कभी-कभी कि नाटक तत्काल करना पड़ता है जैसे 'एक सत्य हरिचन्द्र' में हुआ। मेरा अनुमान है कि यह लिखने के तुरन्त बाद ही प्रस्तुत हुआ था।

उसकी बात छोड़ो यार ! वह तो आधे से ज्यादा पूर्वाभ्यास के दौरान ही लिखवाया गया था···संवाद ··गति···दृश्य सभी कुछ तो दुबारा लिखवाना पड़ा उसमें···बल्कि एक दृश्य तो हमे खुद ही लिखना पड़ा था।

अच्छा छोड़ो उसे, यह बताओ आजकल क्या कर रहे हो ?

इधर आयोनैस्को के लैसन का रूपान्तरण किया है मैंने १०+२+३ नाम से। उसी के पूर्वाभ्यास मे लगा हू। फासिज्म कैसे पनपता है ?···मेरे विचार से 'लैसन' यही है।

और जलूस ?

उसे तो अभी और करना है। मैं उसे लोकेशन टू लोकेशन सिनिक डिजाइन के हिसाब से बदल-बदल कर प्रस्तुत करना चाहता हू।

छ

दर्शकों को नहीं अपने आपको सुधारिए : व्ही० राममूर्ति

कन्नड़-भाषी रंगकर्मी व्ही० राममूर्ति यूँ तो कन्नड़, हिन्दी, अंग्रेजी—सभी के रंगमच से सम्बद्ध हैं और अभिनय एव निर्देशन भी करते हैं, किन्तु आपका मूल क्षेत्र पार्श्व-मंच ही है। दृश्य-बंध परिकल्पना, प्रकाश-संयोजन और रूप-विन्यास के क्षेत्र में आपने देश-विदेश में विशेष उल्लेखनीय कार्य किया है। व्यक्ति के रूप मे आप जितने सहज, मृदुभाषी और सरल हैं कलाकार के रूप मे उतने ही कठोर अनुशासन-प्रिय, स्पष्टवक्ता और कटु आलोचक। इस वर्ष संगीत-नाटक अकादमी ने सर्वश्रेष्ठ प्रकाश-परिकल्पक के रूप में आपको पुरस्कृत कर मानो समस्त पार्श्व-कर्मियों के कार्य को भी सम्मानित किया है। प्रस्तुत है उनसे हाल ही में ली गई एक भेंट-वार्ता—

आपकी रगमंच के प्रति रुचि कब और कैसे पैदा हुई ?

असर तो कई जगह से पड़ा पर सबसे पहले—बैंगलोर में हमारे घर के सामने ही गुब्बी नाटक कम्पनी थी, उसके नाटक मैंने देखे। कम्पनी के मालिक और उनके परिवार से हमारे पारिवारिक सम्बन्ध थे। उसके बाद स्कूल-कालेज में ड्रामा करता रहा। १६५१ से मैंने रंगमंच को कुछ गम्भीरता से लेना शुरू किया और १६५७-५८ में मैं आद्या जी (सुप्रसिद्ध नाटककार आद्य रंगाचार्य) के सम्पर्क में आया···बस उसके बाद से मैं पूरी तरह थियेटर से जुड़ गया। १६६१ में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रवेश लिया।

आम तौर पर रंगमंच से जुड़ने वाला व्यक्ति अभिनेता या निर्देशक ही बनना चाहता है—फिर आपने ये बैक-स्टेज का क्षेत्र क्यों और कैसे चुना ?

मैं भी पहले एक्टर ही था। इधर एक फिल्म में भी एक्टिंग किया है। मैं अच्छा एक्टर हूँ या बुरा—मैं नही जानता—पर एक्टिंग किया जरूर है। निर्देशन भी काफी किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि सभी लोग एक्टर ही

बन जायेंगे तो 'बैंक वर्क' कौन करेगा और नाटक होगा कैसे ? बस यही सब सोचते-सोचते मैं और मेरे जैसे कई लोग जानबूझ कर बैंक-स्टेज में चले गए। बैंक-स्टेज पर गधों की तरह काम करना पड़ता है—शारीरिक भी और मानसिक भी,। इसके अलावा, शुरू में मैं जिस ग्रुप में था उसमें मैं अकेला ही ऐसा आदमी था जो प्लग लगाना जानता था···बस धीरे-धीरे उसी क्षेत्र मे रुचि बढ़ती चली गई।

क्या 'फ्रीलांस बैंक स्टेज आर्टिस्ट' के रूप में आर्थिक दृष्टि से आप संतुष्ट हैं ?

बिल्कुल नही। भरपेट रोटी खाना और समय पर मकान का किराया देना भी मुश्किल है।

आपने इलेक्ट्रानिक्स का कोर्स किया है। क्या आपको कभी अफसोस नहीं हुआ कि रंगमंच के बजाए अगर आपने कोई प्राइवेट फर्म ज्वाइन की होती तो आप···?

नहीं, बिल्कुल नही, कभी नहीं। जो संतोष मुझे रगमंच से मिलता है···एक कलाकार के रूप में जो कुछ मैंने यहाँ पाया है···तमाम समस्याओं और परेशानियों के बावजूद · वह मुझे और कहीं नहीं मिल सकता था।

आपने भारतवर्ष और उसके बाहर के अनेक देशों का रंगमंच बहुत नजदीक से देखा है : भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच में बुनियादी फर्क क्या है ?

हिन्दुस्तान का रगमंच, अभिनेता-प्रधान है। जबकि यूरोप का तकनीक-प्रधान। आरम्भ से ही आप देखें हमारे यहाँ कत्थककली, यक्षमान, जात्रा ··सभी मे एक्टर का महत्व अधिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से पहले वहाँ भी ऐसा ही था परन्तु जब से तकनीक और डिजाइन का आरम्भ हुआ तो एडोल्फ एप्पिया, एडवर्ड गॉर्डनक्रेग इत्यादि की उपलब्धियों से अभिनेता-निर्देशक सभी ने लाभ उठाया और सबने मिलकर रंगमच का विकास किया। जबकि हमारे यहाँ इसकी शुरुआत पिछले करीब बीस-पच्चीस सालों से ही हुई है। दृश्य-बंध और प्रकाश परिकल्पक तथा रूप-सज्जाकार के अस्तित्व एव महत्व को हमने हाल ही में स्वीकृति दी है। इनमें समन्वय और सामंजस्य का काम तो अभी भी बाकी है। उसकी सख्त जरूरत है।

आर्थिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि भारतीय और यूरोपीय रंगमंच का स्वरूप तथा रास्ता अलग-अलग है या कम से कम होना चाहिए ? क्या यह आवश्यक है कि हम अन्य मामलों की तरह रंगमंच के क्षेत्र में भी तकनीक-समृद्ध देशों के पिछलग्गू ही बने रहें ?

यूरोपीय देशों में रंगमंच-तकनीक का बहुत विकास हुआ है। थियेटर टैक्नोलॉजी लाईटिंग टैक्नॉलॉजी के क्षेत्र मे वहां अद्भुत काम हुआ है। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि विदेशों के अनेक व्यावसायिक नाट्य-दल हमारे अधिकाश नाट्य-दलों की तरह ही धनाभाव की स्थिति में काम कर रहे हैं।

अच्छे परिणाम प्राप्त करने मे इस टैक्नॉलजी की सहायता हमे भी लेनी चाहिए। हमारे यहाँ समस्या यह है कि पैसा सही कामों में इस्तेमाल नही होता। इसी वात का दूसरा पक्ष यह है कि टैक्नॉलजी का अभाव सच्चे कलाकारों के लिए एक चुनौती उपस्थित करता है कि वह अपनी कल्पनाशक्ति और मौलिक सूझ-बूझ का प्रयोग किस प्रकार करते हैं। उनके रास्ते को जानकर, समझकर और अपने शास्त्रीय एव लोक रंगमंच के श्रेष्ठ तत्वों का रचनात्मक उपयोग करके हम अपने निजी रास्ते की तलाश कर सकते हैं। ये सब बहुत कुछ नाटक की अपनी प्रकृति पर भी निर्भर करता है। उदाहरणार्थ **हयवदन** और **जो कुमार स्वामी** की हमारी प्रस्तुतियो को देखें तो आपको पता चलेगा कि वह पूरी तरह हमारी परम्परित नाट्य-रूढ़ियों से अद्भुत प्रस्तुतियाँ थीं। अभी पिछले दिनो कारन्त ने **किंग लियर** को यक्षगान शैली मे प्रस्तुत किया। इन सबसे प्रेरणा लेकर हमे उन्हे आज के मुहावरे मे पेश करना होगा।

मैंने आपको अक्सर ये कहते पाया है कि आज का भारतीय रंगमंच एक पब्लिक यूरीनल है। इससे आपका क्या तात्पर्य है ?

सबसे पहली बात तो यह कि हमारे यहाँ रंगमंच में अनुशासन जैसी कोई चीज है ही नही। रिहर्सल और ग्रीनरूम से लेकर प्रदर्शन तक अनुशासनहीनता ही अनुशासनहीनता देखने को मिलती है। थियेटर को ज्यादातर लोग यहाँ गम्भीरता से नही लेते। अभिनेता, निर्देशक, दृश्य-बंध परिकल्पक, प्रकाश-संयोजक, मेकअपमैन, आलोचक···सब के सब अपनी-अपनी ढपली बजाते हैं। ये लोग आपस मे मिल कर एक-दूसरे को समझ कर काम नहीं करते। सफाई पर कतई ध्यान नही दिया जाता···वगैरह ढेरों ऐसी वातें है जिनकी वजह से मैं इसे पब्लिक यूरीनल कहता हूँ। मगर एक बात याद रखिए; मैं इसे छोड़ कर भाग नहीं रहा। मैं इसे साफ करना चाहता हूँ।

इसे सुधारने और साफ करने के कुछ तरीके सुझाएँगे आप ?

क्यो नही ! एक तो 'थियेटर वर्कशॉप्स' की जानी चाहिए, जिनमे अनुशासन और सफाई पर वल दिया जाए। बाहरी सफाई और व्यवस्था से हमारा मन और चिन्तन भी साफ और स्वस्थ रहेगा। हिपोक्रेसी और ग्रुपिज्म से हमें छुटकारा पाना चाहिए। ड्रेसिंग रूम और मेकअप रूम में शान्त रहना चाहिए। रिहर्सल में वक्त पर आना चाहिए···ये सब हम सब जानते हैं मगर जरूरत इन पर अमल करने की है। कही भी सिग्रेट पीने लगेंगे, कही भी पान थूक देंगे··· छिलके फेंकेंगे···नाटक शुरू हो जाने के बाद ठक्-ठक् करते चले आयेंगे ··हमें अपनी ये आदतें सुधारनी होंगी। रंगमच को आयाराम गयाराम से मुक्त करना बहुत जरूरी है।

हमारे यहाँ फिल्म और टी० वी० ने रंगमंच के लिए एक बड़ा संकट पैदा कर दिया है···

ये स्थिति सिर्फ हमारे यहाँ ही नहीं, सभी देशों में है।

फिल्म और टी० वी० की प्रतियोगिता से रंगमंच को बचाने का क्या कोई तरीका नहीं है?

रंगमच को जिन्दा रखने के लिए हमें कुछ मौलिक, प्रभावपूर्ण, रुचिकर, नया और चुनौतीपूर्ण हमेशा करते रहना होगा। विदेशों का उदाहरण लीजिए। वहाँ सिनेमा की यथार्थवादिता से बचने के लिए थियेटर ने म्यूजीकल्स का रास्ता पकड़ा। माई फेयर लेडी, ओलीवर···सब पहले स्टेज-शो ही थे। बाद में फिल्म वालों ने इन्हें भी रंगमंच से छीन लिया। 'शोमैनशिप' के बिना रंगमंच को बचाना मुश्किल है। विश्वास रखिए···एक परफॉर्मेंस मर सकती है, थियेटर कभी नहीं मरता। हमने आम आदमी के पास थियेटर को ले कर जाने की कोशिश ही नही की। क्या दिल्ली वालों ने कभी जामा मस्जिद, शाहदरा, किंग्जवेकैम्प, महरौली जैसे इलाकों में जाकर नाटक करने की बात सोची है? आपके नाटकों का दर्शक बहुत सीमित है। अच्छे और नये नाटक कीजिए, दर्शक वर्ग को बढाइए और चर्चा-गोष्ठियाँ कीजिए, अखबारों में लिखिए, प्रचार कीजिए···रंगमंच का विकास अपने आप होता चलेगा। एक बात और, हमारे पास देश में अनेक प्रेक्षागृह हैं···खास तौर से टैगोर थियेटर्स, आप उनकी हालत देखिए। दीवारों की सुन्दरता और कुर्सियों की सुविधा (आन्तरिक सज्जा) पर इतना पैसा खर्च किया गया है, मगर स्टेज, विंग स्पेस, ग्रीन रूम, टॉयलैट्स, लाइट इक्युपमेंट्स के बारे में कभी किसी ने सोचा? बैंगलौर के रवीन्द्र थ्येटर को बने लगभग अट्ठारह साल हो गए, आज उन्होंने मुझे वहाँ के लाइट-डिजाइन करने को कहा है। अब तक वहाँ क्या हो रहा था? क्या ये काम भवन-निर्माण के समय ही नही किया जाना चाहिए था? हमारे पास अच्छे रिहर्सल हाल नहीं हैं। आम आदमी (कुली, मजदूर, रिक्शा वाला) के लिए अच्छा व्यवहार तक नही है। इन व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाए बिना हमारे रंगमच का सुधार नही हो सकता। दर्शकों को नहीं, अपने आप को सुधारिए।

एक तकनीशियन के रूप में आप नाटककार से क्या उम्मीद करते हैं?

मेरे विचार से नाटककार को बहुत ज्यादा रंग-निर्देश देकर निर्देशक, अभिनेता, पार्श्वकर्मी इत्यादि को जकड़ना नही चाहिए। हाँ, कुछेक संकेत जरूर दिए जा सकते हैं। एक अच्छा नाटककार अपनी बात नाटक में कह देता है। वह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि उसे मंचित कैसे किया जाएगा—यह सब सोचना निर्देशक का काम है—नाटककार का नहीं।[1] उसे डिटेल्स नही देने

---

१. संयोग से इस साक्षात्कार से लगभग आध घंटा पहले एक बातचीत के दौरान बिलकुल यही बात सुप्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक राजिन्दर नाथ ने भी कही थी।

चाहिए। पुराने क्लासिक्स मे रंग-निर्देश कहाँ होते थे पर आज तक हम उन्हे श्रेष्ठ नाटक मानते और खेलते है।

हिन्दी नाट्य-लेखन के बारे में आपकी राय क्या है ?

बड़ा कठिन और खतरनाक सवाल है। मेरे विचार से आजादी के बाद हिन्दी लेखकों ने बहुत ज्यादा लिखा है मगर सोचा बहुत कम है। यही कारण है कि नाट्य-लेखन के क्षेत्र में सचमुच अच्छे नाटक और नाटककार बहुत ही कम है (यदि मैं यह कहता हूँ कि कन्नड़ साहित्य सबसे महान् है तो मैं अंधा हूँ। इसलिए कृपया आप मेरी इस आलोचना को किसी भाषा-विशेष से जोड़ कर न देखें)। नाटकों में अंधायुग और नाटककारों मे **मोहन राकेश** का नाम मैं लेना चाहूँगा। इधर मुझे डा० शंकर शेष का **एक और द्रोणाचार्य** अच्छा लगा। कम से कम शिल्प में एक नयापन तो है, और भी हैं। अच्छे नाटककार पर ज्यादा नही। हिन्दी और उर्दू में कुछ बहुत अच्छी कविताएँ हैं जिन्हे मच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। चेहरों पर रंग पोतकर मंच की रोशनी में अध-रटी लाइनें बोल देने का नाम ही नाटक नहीं है। मैं फिर कहना चाहूँगा कि जहाँ तक कला और कलाकार का सवाल है कलाकार को हमेशा खुले मन का होना चाहिए। कला की भाषागत, प्रादेशिक, धार्मिक और राष्ट्रीय सीमाएँ नही होती।

मूर्ति साहब, हाल ही में अकादमी ने आपको जो पुरस्कार दिया—उसके विषय में आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

मेरी पहली प्रतिक्रिया थी, 'एकदम असम्भव'।

क्यों ?

इसलिए कि मेरे जैसे आदमियों को अकादमी पुरस्कार कैसे मिल सकता है ? तापस सेन पहले व्यक्ति थे जिन्हे अकादमी ने लाइटिंग के आदमी होते हुए भी 'स्टेज क्राफ्ट' के लिए पुरस्कृत किया था। अब सिर्फ 'स्टेज लाइटिंग' के लिए अकादमी कैसे इनाम दे सकती है ? इसके अलावा, हम लोग तो नेपथ्य में कुली की तरह चुपचाप काम करने वाले लोग हैं। अखबारों में नाम भी शायद ही कभी आता है। हमे कौन जानता है ? मैं अकादमी की कार्य-प्रणाली का कटु-आलोचक भी रहा हूँ⋯यही सब कारण थे कि पुरस्कार की खबर मुझे अविश्वसनीय लगी।

अब क्या लगता है ?

पहले तो अजीब-सा लगा। अब सोचकर लगता है कि एक दृष्टि से यह अच्छा ही है, क्योंकि इस प्रकार अकादमी ने मुझ जैसे चुपचाप काम करने वाले तमाम पार्श्वकर्मियों को उत्साह, उम्मीद और प्रेरणा प्रदान की है। यह सिर्फ मेरा नहीं बल्कि उन सब का सम्मान है जिन्हे मंच के तीव्र प्रकाश में कोई नही देखता—जिनका नाम अखबारों में नही छपता मगर जो फिर भी लगातार चुपचाप काम कर रहे हैं।

परिशिष्ट

नाट्यान्दोलन में समीक्षकों का योगदान
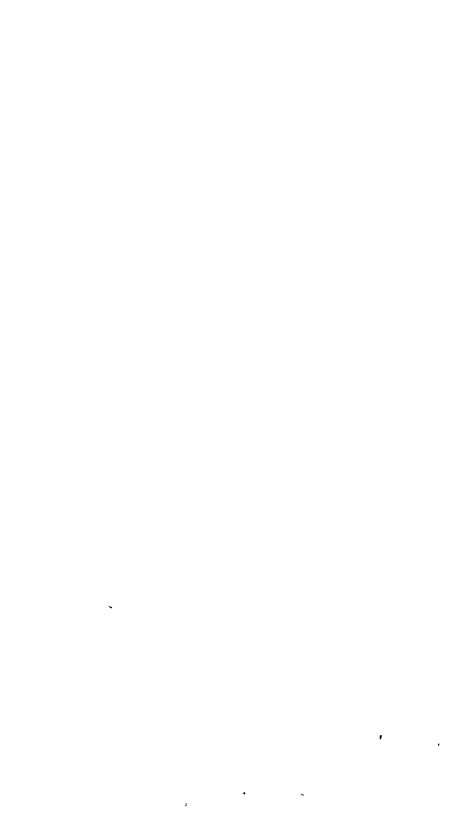
नाट्यांदोलन में समीक्षकों का योगदान : कुछ बुनियादी सवाल

अभिनय के आमंत्रण पर १ मई, १९७७ की प्रातः १०.३० बजे श्रीराम कला-केन्द्र, नई दिल्ली मे वयोवृद्ध नाटककार समीक्षक श्री जगदीशचन्द्र माथुर की अध्यक्षता में नाट्यांदोलन में समीक्षकों का योगदान ? विषय पर एक 'अभिनय गोष्ठी' का आयोजन किया गया। जिसमें नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, समीक्षक, पार्श्वकार, और दर्शकों ने सक्रिय भाग लिया। संयोजक (जयदेव तनेजा) ने इसे पूर्वाग्रह और पक्षधरता से रहित रंगकर्मी-संवाद-मंच के रूप में प्रस्तुत किया तो अध्यक्ष ने समस्या के साथ-साथ समाधान पर भी सार्थक बातचीत करने को कहा। विषय की शुरुआत करते हुए समीक्षक श्री कन्हैया लाल नन्दन ने रंगकर्मियों और समीक्षकों के बीच की दीवारें तोड़ने और उनमें तालमेल बैठाने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि समीक्षक को रंगमंच की तकनीकी जानकारी होनी चाहिए तथा उसे किसी प्रस्तुतीकरण के पीछे की जद्दोजहद, तकलीफों और मुसीबतों का साक्षी भी बनना चाहिए। उसे अपनी ओर से अन्तिम फतवा नहीं देना चाहिए और उसे प्रारम्भिक पूर्वाभ्यासों से प्रदर्शन तक नाटक से जुड़े रहकर, निर्देशक की दृष्टि को समझना और अन्ततः पाठकों तक पहुंचाना चाहिए। उसका दायित्व रंगकर्मियों के प्रति भी है और पाठकों के प्रति भी। सम्पादकों को चाहिए कि वह अपने नाट्य समीक्षकों की समझ, क्षमता और जानकारी की कड़ी जांच-पड़ताल करें। समीक्षक अभिनेता-निर्देशक श्री रामगोपाल बजाज ने प्रश्न उठाया कि क्या कभी किसी रंगकर्मी की योग्यता-अयोग्यता का प्रमाणपत्र मांगा गया है ? यदि नहीं तो फिर यह बंधन या नियंत्रण समीक्षक पर ही क्यों ? यदि कोई निर्देशक किसी बढ़िया नाटक का सत्यानाश करने का हक रखता है तो समीक्षक भी अपनी समझ से बढ़िया प्रदर्शन की घटिया समीक्षा करने का हक रखता है। उनके विचार से कला के क्षेत्र में आते ही अपने राजनीतिक मत का पूर्वाग्रह पीछे छोड़कर नाटक का कलात्मक मूल्य आंकना चाहिए। समीक्षकों ने नाटक को प्रतिष्ठा दिलाई है, दर्शक वर्ग तैयार किया है, विज्ञापन का भी काम किया है।

समीक्षा को समय पर आना चाहिए और उसे किसी की व्यक्तिगत राय के स्थान पर समीक्षा ही होना चाहिए। रंगकर्मी के नाते हम आपसे कोई रियायत नहीं चाहते। आप बेशक हमारा 'फाइनल प्रोडक्ट' देखकर ही अपना निर्णय दें, परन्तु वह निर्णय दायित्वपूर्ण तो होना ही चाहिए। नाटककार श्री रेवती शरण शर्मा ने समीक्षक की जिम्मेदारी, प्रतिबद्धता और ईमानदारी का सवाल उठाया और अखबारों की कुछ पुरानी कतरनें पढ़कर समीक्षकों के दोहरे मापदण्डों की भर्त्सना करते हुए कहा कि एक जगह समझौते और दूसरी जगह आदर्श का द्वैत खत्म होना चाहिए। आवश्यकता किसी की बदनामी करने की नहीं, एहसास दिलाने की है। दूसरों की आलोचना करने से पहले अपना गिरेबान भी देख लेना चाहिए। किसी भी मामले या स्थिति मे शासन को रंगमंच में खींचना या हस्तक्षेप के लिए प्रोत्साहित करना खतरनाक है—फिर उसे कहीं भी रोकना असम्भव हो जायेगा। रंगकर्मी श्री ओ० पी० कोहली ने उत्तेजित होकर समीक्षक के ढोंग का पर्दाफाश करते हुए कहा कि संस्था या निर्देशक का नाम बदल जाने से समीक्षा बदल जाती है। कही तो समीक्षक तटस्थ और निलिप्त रहने का नाटक करता है और कही पार्टी बन जाता है। यह 'पार्टटाइमर' और 'हाबी' वाले नाट्य-समीक्षक नाट्यांदोलन में कोई योगदान नही दे सकते। बिना अध्ययन और तैयार किये ये समीक्षक विवेच्य नाटक की समुचित समीक्षा करने के बजाए विकसित देशों के प्रतिमानों को लागू करके अपना रौब जमाना चाहते हैं। फिर यह भी समझ में नहीं आता कि बिना विशिष्ट अध्ययन प्रशिक्षण के ये लोग बैठे-बिठाये बैले और ओपेरा तक के अधिकारी विद्वान कैसे बन जाते हैं? इसी बात और स्वर को और आगे बढ़ाते हुए अभिनेता निर्देशक श्री एम० के० रैना ने आक्षेप लगाया कि हद तो यह है कि अक्सर ये लोग अपने शहर तो शहर बिना नाटक देखे बाहर के काम पर भी घर बैठे-बैठे निर्णय दे देते हैं। हमारी मजबूरी नहीं जानते, परिश्रम नही देखते, दुःख-दर्द और संघर्ष के भागीदार नहीं बनते। बिना परिणाम जाने-बूझे हतोत्साहित करते हैं, रंगमंच की जड़ें काटते हैं और गोष्ठियों में बैठकर लच्छेदार भाषा में उपदेश देते हैं। हमें दर्शन और सिद्धान्त पढ़ाते है।

पार्श्वकारों की ओर से प्रकाश-परिकल्पक श्री सीतांशु मुखर्जी और अभिनेता एवं दृश्य-बंध परिकल्पक श्री रौबिन दास ने समीक्षाओं में तकनीकी पक्ष की घोर उपेक्षा पर रोप व्यक्त करते हुए कहा कि नेपथ्यकारों के काम पर बस 'अच्छा' या 'बुरा' मात्र भी कभी-कभी ही कहा जाता है, विश्लेषण का तो प्रश्न ही नही उठता। प्रकाश-व्यवस्था मे समीक्षक संगत की अपेक्षा चमत्कार पर अधिक विभोर होते हैं—प्रमाण स्वरूप 'किसी एक फूल का नाम लो' तथा 'पगला घोड़ा' की समीक्षाएँ देखी जा सकती हैं। समीक्षक श्रीमती कविता नागपाल ने उपरोक्त वक्ताओं के विचारों (आरोपों) के पारस्परिक विरोध का

उल्लेख करते हुए कहा कि मूल प्रश्न वास्तव में यह है कि समाज में रंगमंच का 'रोल' क्या है ? इसी से समीक्षक का दायित्व जुड़ता है। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि 'कला' का वैचारिकता और प्रतिबद्धता से सीधा सम्बन्ध होता है— क्योंकि जीवन से इनका सीधा सम्बन्ध है। नाटक समाज को क्या देता है, यह देखना निहायत जरूरी है। कला, राजनीति और जीवन में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। सत्य और ईमानदारी सापेक्ष शब्द हैं। समीक्षक समाज से अलग या ऊपर नहीं है। समीक्षक अथवा किसी भी व्यक्ति की वैचारिक प्रतिबद्धता होनी ही चाहिए। प्रतिष्ठित और पुराने नाट्य-दल और नवोदित नाट्य-दल की समीक्षा एक ही पैमाने से नहीं की जा सकती—इसे पूर्वाग्रह समझना भ्रम है। समीक्षाओं के प्रकाशन में विलम्ब का कारण प्रायः अखबारी दफ्तरों की व्यवस्था या स्पेस की कमी वगैरह होता है। समीक्षक श्री रमेश चन्द्र ने विलम्ब के अन्य व्यावहारिक कारणों पर प्रकाश डाला और बताया कि दैनिक और साप्ताहिक समीक्षा की भूमिका अलग-अलग होती है। दिल्ली का रंगमंच अब उस स्तर पर पहुंच गया है कि सब प्रदर्शन की समीक्षा सम्भव नहीं है। कभी-कभी बुराई करने से उपेक्षा करना बेहतर होता है। एन० एस० डी० के प्रथम वर्ष के छात्रों और रेपर्टरी के लिए अलग-अलग प्रतिमान रखना आवश्यक है। पूर्वाभ्यासों में जाना व्यावहारिक नहीं है और ज्यादा 'इन्वाल्व' होने से इसके 'समीक्षा' के बजाए 'गपशप' बन जाने का खतरा है।

श्रीमती सरोज वशिष्ठ ने फिर से समीक्षक के अधिकार का प्रश्न उठाया और उसकी स्वतंत्र दृष्टि और रुचि पर बल दिया। इस पर निर्देशक श्री राजिन्दर नाथ ने वक्तव्य दिया कि समीक्षक दायित्व निभाने के लायक ही नहीं है, इसलिए उसके योगदान पर बहस करना ही बेकार है। ध्यातव्य है श्री राजिन्दर नाथ काफी समय तक स्वयं नाट्य-समीक्षाएँ लिखते रहे हैं। इस सामान्य वक्तव्य से कुछ समीक्षक बहुत नाराज हो गये और उन्होंने श्री राजेन्दर नाथ और आयोजकों से क्षमा मांगने के लिये कहा। इस प्रकार अंत तक पहुंचते-पहुंचते यह विचारोत्तेजक गोष्ठी उत्तेजना के चरम पर पहुंच गई और दो-एक समीक्षक विरोध में 'वाक आउट' भी कर गए। अंत में अध्यक्ष के रूप में श्री माथुर ने दिल्ली की रंगमंचीय गतिविधियों पर संतोष एवं प्रसन्नता व्यक्त की तथा गोष्ठी को उपयोगी, महत्वपूर्ण और सार्थक बताया।

श्री आनंद गुप्त ने गोष्ठी में व्यक्त विचारों को वक्ताओं के व्यक्तिगत और निजी विचार बताते हुए कहा कि यहां सभी को अपनी बात कहने की पूरी आजादी है। हम किसी के पक्ष या विपक्ष में नहीं हैं। हमारा उद्देश्य सबके विचार सुनना और उन पर विचार-विमर्श करना है।

नाट्यांदोलन में समीक्षकों का योगदान विषय पर **अभिनय** की दूसरी संवाद-गोष्ठी सुप्रसिद्ध अभिनेता निर्देशक **श्री दीनानाथ** की अध्यक्षता मे २२ मई ७७ को प्रातः १०-३० बजे श्रीराम कला केन्द्र, दिल्ली में हुई। संयोजक द्वारा पिछली गोष्ठी की रिपोटिंग के बाद 'रंगशिविर' भोपाल के रंगकर्मी-निर्देशक **श्री सत्येन कुमार** ने भोपाल जैसे अपेक्षाकृत छोटे नगरों के रंगमंच का हवाला देते हुए कहा कि हमारा थ्येटर 'हाबी' वाला है, हम प्रोफैशनल नही हैं। मगर बहुत गम्भीर और जिम्मेदार हैं। हमारे रंगमच में समीक्षक की कोई भूमिका नही है। हम अपना दर्शक वर्ग बना भी रहे हैं और उसे शिक्षित भी कर रहे हैं। समीक्षक इसी में शामिल है। जिसे हम स्वय अभी पढ़ा रहे हैं, उससे क्या उम्मीद की जा सकती है। उसे गम्भीरता से लेना बेकार है। मगर दिल्ली-बम्बई जैसे बड़े शहरों की स्थिति भिन्न है—हालांकि यहां भी समीक्षक की स्थिति एक 'रिस्पैशन-बूथ' से ज्यादा कोई एहमियत नही रखती। इनकी समीक्षाएँ पढ़कर हमें गुस्सा आता है, परेशानी होती है—मगर कोई लाभ नही होता। हमारे नाट्यांदोलन में अभी तक समीक्षकों ने कोई योगदान नही दिया।

नवोदित नाटककार **श्री चिरंजीत धवन** ने अपने कटु अनुभवों का स्मरण करते हुए बताया कि किस प्रकार वह **प्रतिशोध** (हिन्दी नाटक) के बाद पजाबी रंगमच की ओर उन्मुख हुए और कैसे इन तथाकथित समीक्षकों ने सारे पंजाबी नाटक को एक ही लाठी से हांककर उसे भी तबाह कर दिया। हिन्दी वालों को उस पंजाबी दर्शक वर्ग का लाभ उठाना चाहिए था। दर्शक के स्तर पर यह वर्गीकरण अब खत्म होना चाहिये। अभिनेता-निर्देशक **श्री एम० के० रैना** ने क्रुद्ध व्यंग्य से प्रश्न किया—आज की गोष्ठी में समीक्षक क्यों नहीं आए? यह हमारा अपमान है। पिछली गोष्ठी में अनुपस्थित एक समीक्षक ने उसके विषय में कैसे और क्यों लिखा? क्या यही समीक्षक की ईमानदारी है? मुझे ऐसे समीक्षक की कोई जरूरत नही है—न निन्दा की, न प्रशसा की। क्या तमाशा है—एक ही समीक्षक चार-चार अखबारों में समीक्षा लिखता है, और मजा ये है कि वह अलग-अलग भी होती है। व्यक्तिगत रूप से मेरा यह दृढ विश्वास है कि हमारा थ्येटर उसके बिना भी चल सकता है, चलेगा और इससे बेहतर चलेगा। **सुश्री श्यामली मित्तर** ने एक सामान्य दर्शक की हैसियत से बोलते हुए कहा कि समीक्षक को नकारना सही नहीं होगा। क्या सभी अभिनेता अभिनय के सिद्धांत पक्ष से हमेशा परिचित होते हैं? फार्म और प्रस्तुतिकरण के सम्बन्ध मे कई ऐसी बातें होती हैं जिन्हें दर्शक कतई नहीं जानता। समीक्षक को यह सब बताना चाहिए। उसे नाटकों की पूर्व-समीक्षा करके अपने पाठकों को बताना चाहिए कि कौन-सा नाटक कैसा है और उसमे क्या है? उसका योगदान निश्चित रूप से है। रंगकर्मी **श्री ओ० पी० कोहली**

ने स्वीकार किया कि समीक्षक का स्थान है मैं मानता हूं। परन्तु क्या उसमें एक सामान्य दर्शक की सी सहृदयता, सहानुभूति और तटस्थता भी है ? नही है, तब उसे समीक्षा करने का क्या अधिकार है ? हमारे दिल्ली के समीक्षक ने लोकप्रिय रंगमंच को नष्ट कर दिया है। यह पार्ट-टाइमर सिर्फ नाक-भौं ही सिकोड सकता है, कोई योगदान नही दे सकता। **श्रीमती सरोज वशिष्ठ** ने कहा कि, ये लोग सम्पादकों को पटा लेते है। फैसला सम्पादक के हाथ मे है और आप उसे नही हटा सकते। सम्पादक ठेकेदार की तरह बात करते हैं। उनसे समीक्षा मे गैर-जिम्मेदारी की बात करो तो उसे बातों मे उड़ा देते है। उनके लिए इस कॉलम की कोई एहमियत नही है। श्रीमती वशिष्ठ ने सुझाव दिया कि, उस कालम को पढ़ते ही कितने लोग है ? इसलिये रंगकर्मियों को उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। इस पर **श्री रैना** फिर उत्तेजित होकर बोले, आप ये बताइए कि क्या कारन्त ने हिन्दी रंगमच को कुछ नही दिया ? फिल्म-वाला, कन्नडवाला के रूप में ही समीक्षक उनकी चर्चाएँ क्यों करते है ? डा० लागू, बादल सरकार और किस-किस को दिल्ली बुलाया जाता है। पुरस्कार दिये जाते है, अखबार के अखबार रंगे जाते है। क्या हिन्दी रंगमच का भी कहीं कोई जिक्र होता है ? वह हमें हेय दृष्टि से क्यों देखते है ? मनोहर सिंह और तसरीम ? (सैट-डिजाइनर-राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय) जैसे लोग जिन्होंने अपना जीवन इसमें खपा दिया, क्या कभी उनके बारे में कुछ लिखा गया ? हम बहुत ही टुच्चे और कमीने लोग है (इन शब्दों के लिये क्षमा सहित) दूसरे की प्रतिभा को बर्दाश्त नही कर सकते—स्वीकारने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। प्रदर्शन पर विस्तार से लिखकर भी ये निर्देशक का नाम तक गायब कर देते है। **श्री रामगोपाल बजाज** ने बताया किस प्रकार **आधे अधूरे** के पहले प्रस्तुतीकरण के समय एक प्रतिष्ठित समीक्षक ने ओम शिवपुरी का ही नाम अपनी समीक्षा मे नही दिया था। उन्होंने फिर कहा कि, समीक्षक एक प्रचारक मात्र है, उसे मूल्याकनकर्ता नही बनना चाहिये। हम यहाँ केवल दिल्ली या पाच-दस वर्षों की बात नही कर रहे। हमे विचार के स्तर पर इस समस्या को देखना होगा। समीक्षक की भूमिका अभी समाप्त नही हुई है। उसकी जिम्मेदारी बहुत बडी है क्योकि उसका कुछ भी दांव पर नही लगा है। वह केवल पाता है, उसे खोना कुछ नही है। जबकि रंगकर्मी के लिये यह जीवन-मरण का प्रश्न है। इन पूर्वाग्रही समीक्षको को स्वयं हट जाना चाहिए अथवा हमें सम्पादकों पर इनके विरुद्ध दबाव डालना चाहिए। जो भी हो, बहरहाल घबराने की आवश्यकता नही है क्योंकि सही मूल्यांकन हमेशा बाद मे होता है।

श्री शान्ति स्वरूप कालरा ने शास्त्र के उदाहरण से बताया कि जो वेद नही पढ सकता, यह पंचम-वेद (नाटक) उसी के लिए है। इसलिये थ्येटर

अभिजात वर्ग का नहीं आम लोगों का होना चाहिए। हिन्दी वालों ने इसी सत्य को भुला दिया। आम दर्शक मजा चाहता है, 'किक' चाहता है। पंजाबी रंगमंच इसी पहचान पर पनपा। दर्शकों ने उसे अपनाया। समीक्षक तो खिलाफ ही लिखते रहे। प्रसिद्ध रंगकर्मी प्रो० सत्यमूर्ति ('दर्पण' कानपुर) ने कहा कि, तय यह करना है कि आप नाटक कर किसके लिये रहे हैं? दर्शक के लिए या समीक्षक के लिए? समीक्षक रंगमंच का दुश्मन है; हमारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं। मगर यह तो देखना ही पड़ेगा कि आप दर्शक की रुचि बना रहे है या बिगाड़ रहे हैं? यूं तो बब्बन खा लाखों रुपये कमा रहे हैं। श्री कालरा ने अपने पहले सूत्र को फिर से पकड़ते हुए कहा, समीक्षक हमें कोई सहयोग नहीं दे सकता। आप नाटक कीजिए, दर्शक बनाइए बस! समीक्षक आप के पीछे होगा। वास्तव मे ये समीक्षक हैं ही नहीं पत्रकार मात्र हैं। जो रंगमंच में नहीं खपा, साहित्य में नहीं जमा, वह रंगमंच का समीक्षक बन गया है। दैनिक हिन्दुस्तान के श्री जगमोहन ने आक्षेप लगाया कि गोष्ठी में सिर्फ समीक्षकों का पोस्टमार्टम किया जा रहा है, कोई भी रचनात्मक सुझाव नहीं दिया गया। इस पर सत्येन्द्र कुमार ने बताया कि वह अपने प्रदर्शन की समीक्षाएँ स्वयं ही लिखवाते और छपवाते है तथा उसमें सभी रंगकर्मियों का नामोल्लेख अवश्य होता है। श्री दीनानाथ ने समाधान-सूत्र दिया कि समीक्षक को हमारा वकील बनना चाहिए, जज नहीं। श्री आनंद गुप्त ने रंगकर्मियों को 'ग्लैमराइज' करने की आवश्यकता पर बल दिया और कहा कि केवल इन समीक्षाओं पर निर्भर करने के बजाए स्वयं रंगकर्मियों को अपने सहयोगी दलों और उनके काम पर छोटे-बड़े लेख वगैरह लिखने चाहिये। उसी से इस आन्दोलन का टैंपो बनेगा। तेज बातचीत में श्री रैना और कोहली ने फिर से समीक्षक के बहिष्कार की बात उठाई तो श्री सुधीर टंडन ने कहा, आप समीक्षक को नकार सकते है मगर कला से समीक्षा की भूमिका को नकारना असंभव है। इतिहास इन समीक्षाओं के आधार पर ही लिखा जाएगा। समीक्षक की भूमिका महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण है। रंगमंच एक मिश्रित कला है। मगर हमी लोग अन्य कला-रूपों से कितने जुड़े हैं? फिर आप समीक्षक या दर्शक से ही क्या अपेक्षा रखते हैं? अध्यक्ष श्री दीनानाथ ने क्षेत्रीय बनाम हिन्दी रंगमंच का प्रश्न उठाया और कहा कि, अन्य भाषाओं वाले हिन्दी भाषा और साहित्य को ही नहीं पहचानते आपके रंगमंच को क्या पहचानेंगे? वह हमारे काम को देखना तक नहीं चाहते, स्वीकारने की तो बात ही अलग है। हमने उन्हें स्वीकारा, सम्मान दिया, मगर हमें क्या मिला? समीक्षकों ने भी हिन्दी रंगमंच और रंगकर्मियों की घोर उपेक्षा करके इस अपमानजनक कुकृत्य मे निर्णायक भूमिका निभाई है। अब यह ढोंग खत्म होना चाहिए।

इन तमाम विचारों, धारणाओं और मान्यताओं पर गम्भीरता से विचार करने के बाद नाट्य-समीक्षा को लेकर कई बुनियादी सवाल पैदा होते हैं।

सबसे पहले तो 'नाट्य-समीक्षा' शब्द को लेकर ही यह विवाद हो सकता है कि इसका सम्बन्ध नाट्यालेख की समीक्षा से है या उसकी प्रस्तुति की समीक्षा से ? नाट्यालेख की समीक्षा को लेकर भी यद्यपि पुरानी और नई समीक्षा-दृष्टि अथवा पद्धति के आधार पर खासी बहस की गुंजाइश है पर फिर भी, मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि नाट्यालेख की समीक्षा और किसी भी अन्य पुस्तक-समीक्षा में कोई आधारभूत अन्तर नहीं, जबकि प्रस्तुति-समीक्षा का मूल तर्क और व्याकरण तथा इसकी प्रक्रिया एकदम भिन्न और अपेक्षाकृत कठिन है। बकौल बसी कौल, "रेकार्ड या टेप या फिल्म की तरह नाटक (यहां इसका तात्पर्य प्रस्तुति से ही है) का कोई स्थायी रूप सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। उसे हर बार 'घटित' होना पड़ता है। नौ-तीस पर खत्म होने वाला नाटक अपना 'रिकाग्निशन' या मूल्याकन नौ-तीस पर मांगता है—नौ इकतीस पर नहीं।"[1] इसलिए किसी नाट्य-प्रस्तुति के वर्षों बाद 'सही मूल्यांकन' की बात सही नहीं है, क्योंकि बाद में इस प्रकार का कोई मूल्यांकन संभव ही नहीं है। हाँ, पुनर्मूल्याकन हो सकता है परन्तु उस स्थिति में भी ये समकालीन समीक्षाएँ ही आधार सामग्री का काम करती हैं। अतः रंग समीक्षकों का दायित्व ऐतिहासिक महत्व का है और उन्हें इसे अत्यन्त गम्भीरता और जिम्मेदारी से निभाना चाहिए।

मैं समीक्षक के पक्ष से कोई वकालत नहीं करना चाहता और न ही उसके लिए कोई रिआयत मांगता हूँ परन्तु कई सवाल ऐसे है जिन पर गम्भीरता से विचार विमर्श की आवश्यकता प्रतीत होती है।

यह सही है कि रंग-समीक्षक को रगमंच के माध्यम की तकनीकी और व्यावहारिक जानकारी होनी चाहिए परन्तु क्या वास्तव में हमारे समसामयिक सभी नाट्य-निर्देशकों को दृश्य-बंध, संगति, नृत्य और प्रकाश-योजना की अपेक्षित जानकारी होती है ? मेरे विचार से 'आमलेट' के अच्छे-बुरे की पहचान के लिए आमलेट खाने का अनुभव ही पर्याप्त आधार होता है, उसके लिए मुर्गी बनना कतई जरूरी नहीं है। हा, यह सच है कि पच्चीस-तीस कलाकारों की महीनों की मेहनत से तैयार कृति को एक व्यक्ति द्वारा एक बार देख कर सभी कोणों और बारीकियों से परख पाना प्रायः सम्भव नहीं होता, इसलिए किसी प्रस्तुति का यथासम्भव सही मूल्याकन चार-पाँच समीक्षाओं को सामने रख कर किया जा सकता है।

आज के अधिकांश नाटक प्रायः छपने से पहले ही प्रस्तुत किए जाते हैं

---

१ छायानट : जुलाई-दिसम्बर १९७७ : पृष्ठ ५६

इसलिए समीक्षक द्वारा उसे पढ कर और तैयार होकर आने का कोई प्रश्न ही पैदा नही होता। लगभग यही स्थिति पूर्वाम्यासों को लेकर है। ज्यादातर नाट्य-दल जहाँ अपने होने वाले नाटक का नाम तक बताने से कतराते हों वहाँ यह उम्मीद करना कि वह एक बाहर के व्यक्ति ? (समीक्षक) को रिहर्सल में आने देंगे—एक गलतफहमी से अधिक और कुछ नहीं है।

कोई भी समीक्षा चाहे वह कितनी भी वैज्ञानिक और तटस्थ दृष्टि का दावा करती हो, पूर्णत राग-द्वेप-रहित हो ही नही सकती। प्रत्येक समीक्षा मूलत समीक्षक के व्यक्तिगत राग-द्वेपजन्य व्यक्तित्व की 'प्रतिक्रिया' ही होती है। इसी प्रारम्भिक प्रतिक्रिया के कारणों को विश्लेपित करते हुए वह कुछ धारणाओं, सिद्धान्तों, मान्यताओं अथवा शास्त्रों का सहारा खोजता है। किसी नाटक के चुनाव और उसके प्रस्तुतिकरण मे क्या रग-कर्मियों के सामने भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे यही मनोविज्ञान काम नही करता ? क्या कोई भी व्यक्ति अपनी पसन्द-नापसन्द, रुचि-अरुचि, शिक्षा-दीक्षा, संस्कार-प्रतिबद्धता इत्यादि से अपने को काट कर अलग कर सकता है ? फिर रग-समीक्षक से ही यह अपेक्षा क्यों ? हा, जहा तक उसके सुशिक्षित, सुसस्कृत, और सहृदय होने तथा नये अनुभव के प्रति खुलेपन की बात है—ये बुनियादी विशेषताएँ एक समीक्षक तो क्या दर्शक तक में अनिवार्यत: मौजूद होनी ही चाहिए।

इस समय सबसे बडी आवश्यकता वास्तव में यह है कि रग-समीक्षा मूल्यां-कनवादी न होकर विवेचन-विश्लेपणवादी हो और वह प्रस्तुति के रचनात्मक बिन्दुओं का उद्घाटन करके इस नये रग-आन्दोलन में अपनी विशिष्ट और ऐतिहासिक भूमिका का समुचित निर्वाह करे। रग-समीक्षा की सही शब्दावली और उसके नये व्याकरण की तलाश की जाए। यह तलाश रगकर्मी और रंग-समीक्षक के पारस्परिक विश्वासपूर्ण सामजस्य और सहयोग के बिना सम्भव नही है। ●